कला और प्रकृति

डॉ. रीतिका गर्ग *

ईश्वर एक अद्वितीय कलाकार है जिसकी विशाल और अद्‌भुत रचना यह सृष्टि है। मनुष्य ईश्वर निर्मित प्रकृति की ही गोद में पलकर बड़ा हुआ है तथा इस सृष्टि का ही एक अंग है। प्रकृति के विशाल सागर, पर्वत तथा अनन्त आकाश आदि के सामने मनुष्य को अपनी लघुता का आभास होता है, परन्तु इसी विराट प्रकृति के असीम सौन्दर्य से प्रेरित होकर वह कला सृजन के लिए विवश हो जाता है। प्रकृति ही उसकी कला का केन्द्र बिन्दु है। प्रकृति के विभिन्न रूपों को कलाकार तूलिका द्वारा अपनी कलाकृति में उतारता है तथा उसके स्वरूप का चित्रण कर आनन्दित होता है। पशु–पक्षी, वन, सागर, झील, पेड़–पौधे, नदियाँ आदि सभी कलाकार के लिये प्रेरणा का स्रोत बन जाती हैं व इसी प्राकृतिक सौन्दर्य को एक निश्चल कलाकार अपनी कला में प्रथम स्थान देकर प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है।

मानव में प्रकृति एवं संस्कृति दोनों का अद्‌भुत समन्वय है। काल, दिशाएँ और कारण–सम्बन्ध, जिनका ओर–छोर अभी मानव को नहीं मिला है, इसी विराट व्यवस्था के सूत्र हैं। मनुष्य कहीं न कहीं, किसी न किसी प्रकार, इस विराट व्यवस्था से बंधा है। उसके जीवन का स्रोत, स्वयं जीवन, प्राकृतिक है।[1] कलाकृति के निर्माण के लिये जब कोई कलाकार रूप की कल्पना करता है तो वह स्वतः ही इस सृष्टि में व्याप्त किसी न किसी रूपाकृति से अनायास ही प्रभावित हो जाता है।

रूपों की अनुकृति में कलाकार का पहला सम्बन्ध प्रकृति से है। प्रायः यह कहा जाता है कि कलाकार प्रकृति की अनुकृति करता है, पर यह कला के सम्बन्ध में समाज में प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं में से एक है। कला प्रकृति की अनुकृति का प्रयत्न नहीं है। कलाकारों ने वस्तुओं के रूपों को कभी–कभी इतना परिवर्तित कर दिया है कि उनका सादृश्य प्रकृति में ही नहीं मिलता।[2] उदाहरण के लिये–मिट्‌टी प्रकृति है। जब मिट्‌टी से कुम्हार अपने कृतित्व द्वारा घड़ा बनाता है तो मिट्‌टी को वह नूतन रूप, गठन या आकार देता है। उसे अब हम मिट्‌टी नहीं कहते, बल्कि घड़ा कहते हैं और सच यह है कि वह अब न मिट्‌टी है न घड़ा है, बल्कि मिट्‌टी का घड़ा है।[3] प्रकृति के अध्ययन से कलाकारों ने बहुत कुछ सीखा है। कान्स्टेबिल नामक एक अंग्रेज चित्रकार का कथन है कि दूसरों की कलाकृतियों के अध्ययन से हम केवल अनुकृति अथवा समन्वय सीखते हैं। ऐसी अवस्था में हम जिन कलाकृतियों का निर्माण करते हैं उनमें कोई नवीनता या मौलिकता नहीं होती। किन्तु प्रकृति के अध्ययन से हम मौलिक शैली का सृजन करने में समर्थ होते हैं। अतएव प्रकृति को बहुत सूक्ष्मता और सावधानी से समझना चाहिये। उसकी बाह्य अनुकृति तो निष्प्राण होती है।[4] प्रकृति में कृति के द्वारा जो 'रूप' का संस्कार (संस्कृति) पैदा होता है, वह हमें प्रिय लगता है। प्रियता जीवन का पहला मूल्य है। जो प्रिय है, हमें अच्छा लगता है, इसी से हम प्रिय वस्तु को सुन्दर और उसके भाव को सौन्दर्य कहते हैं।[5]

शताब्दियों से भारतीय कलाकार का ध्येय निस्सीम को प्राप्त करना, समस्त प्राकृतिक जीवन के पीछे निहित मूल तत्वों की खोज करना तथा क्षणभंगुर और मायावी अस्तित्व के सही अर्थ को पहचानना

* असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

और अभिव्यक्त करना रहा है। चाहे भारतीय कलाकार ने पत्थरों पर खुदाई की, चाहे उसने तूलिका लेकर चित्र बनाये, चाहे उसने संगीत के स्वरों की साधना की अथवा साहित्यिक प्रतीकों का आश्रय लिया। वह सर्वदा सत्य का दर्शन करने के लिये आतुर रहा है तथा समस्त अस्तित्व के पीछे निहित मौलिक संग्राहक सूत्र की खोज करता रहा है। उसके लिये यह ब्रह्माण्ड दैवी–तत्व की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र रही है।[6] भारत वर्ष में वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिरूपों को ही देवता की संज्ञा से विभूषित किया गया। ऋग्वेद के सूत्रों में सूर्य, रात्रि, उषा, चन्द्र, अग्नि, मेघों में चमकती हुई विद्युत ज्योति, वृक्षों आदि के वर्णन को विषय बनाया। इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों को मूर्त रूपों में परिणित कर दिया गया। यह परिणिति कला का प्रतिरूपण ही तो थी। इन देवताओं के नाम से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इस प्रकार ऋग्वेद के सूत्र यह प्रमाणित करते हैं कि देवतावाद का प्रादुर्भाव प्रकृति शक्तियों का मानवीयकरण है। भारत में वैदिक युग के आदि देवता प्राकृतिक शक्ति रूप थे।[7]

विष्णु धर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र में नृत्य और चित्रकला को प्रकृति की अनुकृति कहा गया है। इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि पूर्वकाल में प्रलय के उपरान्त पुनः सृष्टि के उल्लास में विष्णु ने नृत्य आरम्भ किया। सृजन के उल्लास से परिपूर्ण इसी नृत्य से लौकिक नृत्य–कला का जन्म हुआ। नृत्य का अर्थ है लयात्मक गति। लय का एक क्षणिक अंश ताल कहलाता है। यह सम्पूर्ण विश्व ताल और लय में बंधा हुआ है। इस प्रकार बाह्य रूप में तो चाहे नृत्य और चित्रकला प्रकृति की अनुकृति न हों, पर आन्तरिक रूप में इन दोनों कलाओं में उन सिद्धान्तों की ही अनुकृति होती है जो इस सृष्टि में व्याप्त हैं।[8] कलाओं में प्रकृति का पहला प्रयोग दृश्यचित्रण में होता है। चित्रकार अपने चित्र पटल पर किसी सुन्दर दृश्य का चित्र उतारता है अथवा कवि प्रकृति के किसी दृश्य का वर्णन करता है।

कलाकार ने प्राकृतिक सौन्दर्य को कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित किया, उसने प्रकृति से भयाक्रान्त होकर भी जादू टोने के रूप में प्रकृति के प्रतीकों का निर्माण किया तथा प्रकृति को अपनी भावनाओं का साझीदार बनाकर चित्रों में अंकित किया। आदिमानव को प्रकृति के दो रूपों का सर्वाधिक अनुभव हुआ। एक तो प्रकृति का वह भयावह रूप, प्राकृतिक शक्तियों की वह प्रचंडता, जो उसे दिन–रात झेलनी पड़ती थी, दूसरे वह आवश्यकता जो भूख को बुझाने तथा शीत से शरीर को ढकने की, जो वह रात–दिन भोगता था। बिजली, सूर्य, चन्द्रमा, जल आदि में उसने अनन्त शक्ति को देखा और भोगा। भूख से बचने के लिये विशालकाय पशुओं का शिकार किया तथा कन्द–मूल–फल को उपयोग में लाया। ये सारे प्रभाव उसके मन में इतने गहरे पैठ गये कि उसके अंकन को सर्वाधिक विस्तार शिकार–दृश्यों में तथा प्राकृतिक रूपों को सजावटी अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त करने में देखा जा सकता है।[9]

सिन्धु घाटी सभ्यता की मूर्तियों, भाण्डों तथा सीलों के ऊपर प्राकृतिक रूपों का अंकन देखने को मिलता है। अजन्ता के गुफा चित्रों में प्रकृति को मानवाकृतियों के साथ तथा स्वतंत्र रूप से आलेखनों में दोनों प्रकार से चित्रित किया गया है। पशुओं, पक्षियों, फूल–पत्तियों की सहायता से कलाकार ने इस विराट प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। पद्मपुष्प के अगणित रूप अजन्ता के आलेखनों में भरे पड़े हैं। पद्म सरोवर के अंकन के साथ उन पर उड़ते कलहँस, स्वर्णिम हँस, क्रीड़ा करते श्वेत गजराज, काले हाथियों के झुण्ड आदि हैं। अलंकरण में पद्मपुष्प की पुनरावृत्ति बार–बार हुई है परन्तु प्रत्येक संयोजन में कलाकार की मौलिकता दिखाई देती है[10] साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि कलाकार प्रकृति से कितना अधिक

प्रभावित था और अपने चित्रण के लिये उसने इसका कितना गहन अध्ययन किया। मानवाकृति के साथ केले के वृक्ष, बन्दर, हंस, हाथी जैसे जीवों का चित्रण प्रायः देखने को मिलता है। लताओं, पुष्पों, पशुओं तथा पक्षियों को लयात्मकता में रूपान्तरित करके चित्रित किया गया है।

भारतीय मूर्तिकला में भी कलाकारों का प्रकृति–प्रेम साकार होता रहा है। बोधिवृक्ष तथा शालभंजिका जैसी मूर्तियों में तथा अनेक प्रतिमाओं और स्तम्भों पर वृक्ष और पशुओं को उत्कीर्ण किया गया है।[11] इतना ही नहीं भारतीय कला में अलंकारिकता के लिये भी प्रकृति से उपमायें ली गई हैं। भारतीय चित्र षड़ंग का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सादृश्य के लिये कलाकार ने किस प्रकार प्रकृति के विविध उपादानों का प्रयोग चित्रण में किया। हाथों की अंगुलियों को सेम की फली के सदृश अंकित किया गया। भारतीय शरीर–शास्त्र में आँखे कमल की पंखड़ी के समान सजल बनाई जाती हैं।[12] मीन के समान नेत्र चंचलता, खंजन के समान नेत्र प्रसन्नता व मृग के समान नेत्र सरलता व निरपराधिता आदि भावों का प्रकाशन करते हैं। नागिन सदृश वेणी का अर्थ है – वेणी का श्याम रंग, वेणी का बल खाना व लहराना। वेणी की लम्बाई वाला रूप ही मन को आकर्षित करता है, वही रूप–आकर्षण लहराती नागिन में भी है। अतः चित्रकार ने रूपांकन के प्रभाव में वृद्धि करने हेतु वेणी की सादृश्यता नागिन से की। इसी प्रकार तोते की चोंच के समान नाक, मछली सदृश आँखे, कदली–तने के समान जंघाये, डमरू सदृश नारी कमर, सिंह के समान पुरूष कमर आदि[13] अनेक उदाहरण हमें भारतीय कला में देखने को मिलते हैं।

भारतीय लघुचित्रों में प्रकृति के अंकन का विस्तार दिखायी देता है। वनों के शिकार–दृश्य, राग–रागिनियों के प्रतीक चित्र, नायक–नायिका भेद में प्रकृति को उद्दीपक रूप के चित्र और बारहमासा में तो सभी ऋतुओं को साकार करते लघुचित्रों का विशाल भण्डार है। सभी ओर प्रकृति ही प्रकृति दिखायी देती है।[14] राजस्थानी चित्रशैलियों में प्रकृति का अंकन पूर्णतया अलंकारिक है। जल, पेड़, पक्षी, पहाड़ आदि सभी अलंकारिक रूप में बने हैं। पशु–पक्षी भी प्रतिकात्मक रूप में व सौन्दर्य–वृद्धि हेतु बनाए गये हैं। झीलों, पहाड़ियों, हरित वन–प्रान्तर व बगीची तथा पक्षियों की चहचहाट वाला वातावरण किशनगढ़ शैली के चित्रों में बड़ा सरल उतरा है। कदली वृक्ष विशेषता के साथ बने हैं।[15] मुगल कला, पहाड़ी शैलियों के उपरान्त वर्तमान समय में भी आधुनिक कलाकार सौन्दर्य के विविध तत्त्वों को प्रस्तुत करने में प्रकृति का ही सहयोग लेता रहा है। प्रकृति किसी न किसी रूप में कलाकार को प्रभावित करती रही है और करती रहेगी। प्राकृतिक सौन्दर्य से ही प्रेरित होकर वह सौन्दर्य का पाठ पढ़ता है तथा अपनी कलाकृतियों में सौन्दर्य तत्त्वों को दर्शाने के लिये प्रकृति का ही प्रयोग नित्य नवीन रूपों में करता आ रहा है।

संदर्भ :

1. शर्मा, डॉ. हरद्वारी लाल, कला मनोविज्ञान, मानसी प्रकाशन, मेरठ, 1991, पृ.सं. 81.
2. अग्रवाल, जी.के. 'अशोक', कला सौन्दर्य और समीक्षाशास्त्र, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, 1996.
3. शर्मा, डॉ. हरद्वारी लाल, कला मनोविज्ञान, मानसी प्रकाशन, मेरठ, 1991, पृ.सं. 81.
4. अग्रवाल, डॉ. गिर्राज किशोर 'अशोक', कला समीक्षा, देवऋषि प्रकाशन, अलीगढ़, 1990, पृ.सं. 165.

5. शर्मा, डॉ. हरद्वारी लाल, कला मनोविज्ञान, मानसी प्रकाशन, मेरठ, 1991, पृ.सं. 81.
6. सम्पादक–गोस्वामी, प्रेमचन्द्र, कला : सन्दर्भ और प्रकृति, लोक सम्पर्क प्रकाशन, जयपुर, 1971, पृ.सं. 30.
7. भार्गव, डॉ. सरोज, सौन्दर्य बोध एवं ललित कलाएँ, कला प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ.सं. 100.
8. अग्रवाल, डॉ. गिर्राज किशोर 'अशोक', कला समीक्षा, देवऋषि प्रकाशन, अलीगढ़, 1970, पृ.सं. 166.
9. श्रोत्रिय, डॉ. शुकदेव, कला–विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, 2001, पृ.सं. 120–121.
10. मिश्र, डॉ. स्वर्णलता, कलातीर्थ–अजन्ता, नेशनल बुक आर्गनाइजेशन पब्लिशर्स डिस्ट्रिब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1995, पृ.सं. 100.
11. श्रोत्रिय, डॉ. शुकदेव, कला–विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, 2001, पृ.सं. 122.
12. वर्मा, प्रो. एम.के., कला की ओर, पापुलर बुक डिपो, आगरा, 1958, पृ.सं. 07.
13. अग्रवाल, डॉ. आर.ए., कला विलास, इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 2003, पृ.सं. 228.
14. श्रोत्रिय, डॉ. शुकदेव, कला–विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, 2001, पृ.सं. 122.
15. अग्रवाल, डॉ. आर.ए., कला विलास, इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 2003, पृ.सं. 112.

शैक्षिक तकनीकी विकास में सहायक

डा. गोविन्द राम *

शैक्षिक तकनीकी एक ऐसी प्रविधि का विज्ञान है। जिसके द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। इसका क्षेत्र केवल उद्देश्यों को निर्धारित करने तक ही सीमित नही है अपितु यह उद्देश्यों को व्यावहारिक रूप मे परिभाषित करने मे सहायता करता है। शैक्षिक तकनीकी एक ऐसा विज्ञान है जिसके आधार पर शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्यों की अधिकतम प्राप्ति के लिए विभिन्न व्यूह–रचनाओ का निर्धारण तथा विकास किया जा सकता है।

शिक्षण प्रकिया के अन्तर्गत अपेक्षित क्रियाओं एंव साधनों की व्यवस्था करनी पडती है और सीखने के लिए समुचित परिस्थितियों की रूप रेखा बनानी पडती है शिक्षण के उद्देश्यों का निर्धारण सामाजिक एंव राजनैतिक विचारको एंव दार्शनिकों के द्वारा समाज के व्यापक पक्षों एंव मूल्यो को ध्यान मे रखकर किया जाता है शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण के बाद शैक्षिक तकनीकी इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समुचित व्यूह रचना का चुनाव करती है, और उनका प्रयोग करती है। व्यूह रचना के प्रयोग करने के पश्चात् मूल्यांकन किया जाता है कि कहाँ तक इन उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकी है।

शैक्षिक तकनीकी की विभिन्न विद्वानों ने निम्न परिभाषाएं दी हैं जो इस प्रकार से हैं :–

1. एस0 एस0 कुलकर्णी–''तकनीकी एंव विज्ञान के आविष्कारों और नियमों का शिक्षा की प्रक्रिया मे प्रयोग ही शैक्षिक तकनीकी है।''
2. शिव के0 मित्रा – ''शैक्षिक तकनीकी को उन पद्धतियों और प्रविधियों का विज्ञान कहा जा सकता है जिनके द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।''
3. डॉ0 एस0पी0 कुलश्रेष्ठ–''शैक्षिक तकनीकी विज्ञान पर आधारित एक ऐसा विषय है जिसका उद्देश्य शिक्षक प्रशिक्षण तथा विद्यार्थियों के कार्य को निरन्तर सरल बनाना है जिसमें कि शिक्षा के ये तीन अंग मिलकर समायोजित रहें और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के क्रमबद्ध उपागमों के माध्यमों से सक्षम और समर्थ रहें। इस विषय मे शिक्षा के अदा, प्रदा तथा प्रक्रिया तीनों ही पक्षो को ध्यान मे रखना चाहिए।

अतः शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को सरल प्रभावशाली बनाने के लिए वैज्ञानिक तकनीकी, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा विधियों का उचित प्रयोग शैक्षिक तकनीकी कहलाता है।

शैक्षिक तकनीकी के उद्देश्य

अतः इसी आधार पर शैक्षिक तकनीकी के उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं, जो इस प्रकार से हैं –

1. शैक्षिक तकनीकी द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय और भौतिक संसाधनो एंव युक्तियों का पता लगाना।
2. कक्षा मे शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्यों को पाने के लिए शिक्षण व्यूह–रचनाओं का उचित चयन करना।
3. शैक्षिक उपलब्धियों और व्यवहार परिवर्तन के सन्दर्भ मे शिक्षण मे परिणामों का मूल्याकंन करना।

* एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग, डी0ए0वी0 (पी0जी0) कॉलेज, देहरादून (उत्तराखण्ड)

4. शैक्षिक तकनीकी द्वारा व्यक्तियों की आंकाक्षाओं व आवश्यकताओं का पता लगाना।
5. वैयक्तिक विभिन्नताओं का निर्धारण करना जिससे की छात्रों की योग्यताओं शैक्षिक उपलब्धियों व विशेषताओं आदि का पता लगाना।
6. शिक्षण प्रक्रिया मे प्रयोग हेतु आवश्यक उपकरणों एंव साधनों का विकास करना।
7. शैक्षिक उद्देश्यों को लिखकर उनको व्यवहारिक शब्दावली मे लिखना।
8. शिक्षा की सम्पूर्ण क्रिया व प्रणाली को व्यवस्थित करने के लिए योजना बनाना क्रियान्वयन करना और मूल्यांकन की सुव्यवस्था करना।
9. शिक्षण विधियों और शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करना।
10. शिक्षा प्रणाली के अन्य तत्वो जैसे शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षण अधिगम सामग्री अनुदेशन सामग्री और विधियों आदि को सम्भावित पारस्परिक अन्तःक्रिया आदि की प्रकृति से परिचित कराना।
11. विज्ञान, कला आदि के पाठ्यक्रम का निर्माण करना।
12. शिक्षण अधिगम प्रक्रिया मे शिक्षक–शिक्षार्थियों को उचित मार्गदर्शन प्रदान करना।
13. शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षण प्रतिमानो का विकास करना।
14. शिक्षण वातावरण की परिस्थितियों को अनुकूल बनाना।
15. उपलब्ध शिक्षण अधिगम सामग्री की जानकारी कराना।

अतः कहा जा सकता है कि शैक्षिक तकनीकी का उद्देश्य शिक्षण विधियों और शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करना है।

शैक्षिक तकनीकी की विशेषताएं

अतः इसी आधार पर शैक्षिक तकनीकी की विशेषताएं निर्धारित की गयी हैं, जो इस प्रकार से हैं –

1. शैक्षिक तकनीकी शिक्षा शास्त्र का ही एक अंग है।
2. शैक्षिक तकनीकी शिक्षा विज्ञान और शिक्षा कला दोनो की ही देन है।
3. शैक्षिक तकनीकी एक वैज्ञानिक विषय और अध्ययन है।
4. शैक्षिक तकनीकी का सम्बन्ध अदा, प्रदा तथा प्रक्रिया से होता है।
5. शैक्षिक तकनीकी प्रभावकारी अधिगम के लिए नवीन विधाओं, विधियों और प्रविधियों के विकास पर बल देती है।
6. शैक्षिक तकनीकी मे शिक्षा, शिक्षण और प्रशिक्षण मे वैज्ञानिक ज्ञान का अनुप्रयोग किया जाता है।
7. शैक्षिक तकनीकी मे शिक्षा के लक्ष्यों/ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अधिगम परिस्थितियों दशाओं का व्यवस्थापक संगठन शामिल होता है।
8. शैक्षिक तकनीकी अधिगम के परिणामों को जांचने के लिए मापक यन्त्रों के डिजाइन अभिकल्प तैयार करने पर बल देती है।
9. शैक्षिक तकनीकी वातावरण संसाधनो आदि विधियों के नियन्त्रण द्वारा अधिगम को सरल बनाती है।
10. शैक्षिक तकनीकी का सम्बन्ध शिक्षा की समस्याओं उनके विश्लेषण उनके निराकरण के लिए शोध तथा शिक्षा के सुधार से है।
11. यह शिक्षण को वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ तथा रूचिकर बनाने मे मदद करती है।

12. यह शिक्षण प्रक्रिया के क्षेत्र में मनोविज्ञान, विज्ञान तकनीकी, कला, दृश्य–श्रव्य सामग्री तथा मशीनो के प्रयोग सम्मिलित करती है।
13. शैक्षिक तकनीकी द्वारा शिक्षक तथा विद्यार्थी के व्यवहार मे अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सकता है।
14. यह प्रभावपूर्ण कक्षा नियन्त्रण एंव प्रबन्ध में सहायक है।

अतः कहा जा सकता है कि शैक्षिक तकनीकी शिक्षण को वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ तथा रूचिकर बनाने के साथ–साथ विद्यार्थियों के व्यवहार मे अपेक्षित परिवर्तन लाने का कार्य करती है।

शैक्षिक तकनीकी की आवश्यकता

शैक्षिक तकनीकी की आवश्यकता के सम्बन्ध में निम्न बातें कही जा सकती हैं, जो इस प्रकार से हैं:–

1. इसके द्वारा विद्यार्थियों की आवश्यकता का विश्लेषण किया जा सकता है।
2. शिक्षण के लक्ष्यों को व्यावहारिक रूप में निर्धारित किया जा सकता है।
3. परीक्षा के वर्तमान तरीकों मे सुधार लाया जा सकता है।
4. विद्यार्थियों की क्षमताओं और कुशलताओं का विश्लेषण किया जा सकता है।
5. विद्यार्थियों का विश्लेषण एंव मूल्याकंन किया जा सकता है।
6. कक्षा शिक्षण को सरल, बोधगम्य, स्पष्ट और रूचिकर बनाया जा सकता है।
7. प्रणाली व्यवस्था का प्रयोग करके शैक्षिक प्रशासन एंव प्रबन्ध मे सुधार लाया जा सकता है।

अतः कहा जा सकता है कि शैक्षिक तकनीकी एक ऐसी प्रविधि का विज्ञान है जो बालकों के विकास में सहायक है तथा साथ–साथ यह विज्ञान, कला आदि के पाठ्यक्रम का निर्माण करने तथा शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में शिक्षक–शिक्षार्थियों को उचित मार्ग दर्शन प्रदान करती है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ

1. डॉ0 आर0 ए0 शर्मा, आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ।
2. वी0 भारद्वाज, श्रीमती यशवन्ती गौड़, अपोलो प्रकाशन, जयपुर।
3. जी0सी0 अग्रवाल, एस0पी0 कुलश्रेष्ठ, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा–2।
4. भाई योगेन्द्र जीत, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा–2।

समकालीन व्यंग्य निबंधों में राजनीतिक विसंगतियाँ–हरिशंकर परसाई के संदर्भ में

श्रीमती ममता शर्मा *

व्यंग्य विधा किसी परिचय की मोहताज नहीं है, बल्कि साहित्य में यह अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर आज नई ऊँचाईयों को छू रही है। साहित्य में व्यंग्य का प्रयोग प्राचीनकाल से किसी न किसी रूप में हो रहा है। व्यंग्य एक चुभता हुआ कांटा है जो व्यक्ति के अन्तर्मन को छलनी कर देता है, उसे विकृति के बारे में सोचने पर मजबूर करता है। परिवार, समाज और देश के लिए व्यंग्य एक धारदार हथियार का काम करता है। व्यंग्य का उद्देश्य हास्य के द्वारा केवल हंसी मजाक करना या गुदगुदाना ही नहीं है, बल्कि समाज में विकराल रूप धारण कर चुकी विकृतियों एवं कुप्रथाओं पर आघात करना है।

''उसका लक्ष्य प्रायः मानवीय दुर्बलताओं पर कटाक्ष करके उन्हें उभारना और सुधारना होता है। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति अरूचि प्रकट करने के और भी ढंग हो सकते है, परन्तु व्यंग्य का स्वर और पद्यति सर्वथा भिन्न होती है।''[1]

आधुनिक गद्य साहितय में व्यंग्य की विकास यात्रा में सबसे अहम भूमिका जिसकी है वह है 'निबंध'। निबंध से व्यंग्य को सम्मानजनक एवं विकसित विधा के रूप में पहचान मिली। हिन्दी साहित्य में निबंध का आरंभ भारतेन्दु युग से ही माना गया है। भारतेन्दु और उनके समकालीन रहे पं. प्रतापनारायण मिश्र, पं. बालकृष्ण भट्ट आदि साहित्यकारों ने अपने निबंधों में व्यंग्य का भरपूर प्रयोग किया है। भारतेन्दु युग से लेकर आधुनिक युग तक व्यंग्य जनमानस के आक्रोश की अभिव्यक्ति का माध्यम बना।

आधुनिक युग में व्यंग्य विधा को सम्मानजनक स्थान दिलाने में व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई जी विशेष उल्लेखनीय है। हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य लेखन के द्वारा विशिष्ट पहचान बनाई है। उनकी कटु नजर से देश में फैली कोई भी विसंगति बच न सकी, उनकी लेखनी ने हर विसंगति पर व्यंग्यवाण छोड़े। परसाई जी ने स्वीकार किया है कि–

''मैं सुधार के लिये नहीं बदलने के लिए लिखना चाहता हूँ यानि कोशिश करता हूँ। चेतना में हलचल हो जाये, कोई विसंगति नजर के सामने आ जाए इतना काफी है।''[2]

परसाई जी अपने निबंधों में देश की राजनीति में विभिन्न विसंगतियों पर व्यंग्यवाण से प्रहार करते है, उनके व्यंग्य निबंध राजनीतिक बुराइयों को सुधारने का भरपूर प्रयास करते नजर आते है। उनसे जब यह पूछा जाता है कि तुमइतना राजनीतिक व्यंग्य क्यों लिखते हो? तब परसाई जी कहते हैं कि –

''राजनीति बहुत बड़ी निर्णायक शक्ति हो गई है। वह जीवन से बिल्कुल मिली हुई है। वियतनाम की जनता पर बम क्यों बरस रहे हैं? क्या उस जनता की अपनी कुछ जिम्मेदारी है? ये राजनीतिक दॉव–पेंच के बम हैं। शहर में अनाज और तेल पर मुनाफाखोरी कम नहीं हो सकती क्योंकि व्यापारियों के क्षेत्रों से अमुक–अमुक को चुनकर जाना है। राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार की हमारे जीवन का क अंग

* शोधार्थी, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

है। उससे नफरत करना एक बेवकूफी है। राजनीति से लेख को दूर रखने की बात वही करते हैं, जिनके निहित स्वार्थ है, जो डरते हैं कि कहीं लोग हमें समझ न जाऐं। मैने पहले ही कहा है कि राजनीति को नकारना भी एक राजनीति है।''[3]

परसाई जी ने – निठल्ले की डायरी, तब की बात और थी, भूत के पॉव पीछे, बेइमानी की परत, वैष्णव की फिसलन, पगडंडियों का जमाना, शिकायत मुझे भी है, सदाचार का ताबीज, विकलांग श्रद्धा का दौर, तुलसीदास चन्दन घिसैं, हम इस उम्र से वाकिफ हैं, और जाने पहचाने लोग आदि व्यंग्य संग्रह में राजनीति में उपजी विभिन्न कुरीतियों पर व्यंग्य कर समाज एवं जनता को सचेत करने का प्रयास किया है।

परसाई जी ने ऐसे राजनीतिज्ञों पर निशाना साधा है जो कि देश की भलाई के लिए जनता द्वारा चुनकर कुर्सी पर बैठाए जाते हैं, किन्तु ये नेता देश और जनता की सेवा छोड़कर स्वयं की सेवा में लीन रहते हैं। ये नेता जनता के सामने बड़ी–बड़ी बातें करते हैं। 'नगर–पालक' नामक रचना में परसाई जी ने सत्ताधारी नेता के ऊपर व्यंग्गय किया है। नेता मंच से खड़े कर स्वयं की सेवा में लीन रहते हैं। 'नगर–पालक' नामक रचना में परसाई जी ने सत्ताधारी नेता के ऊपर व्यंग्य किया है। नेता मंच से खड़े होकर बोल रहा था–

''मैं आज कफन लपेट कर निकला हूँ। यह कफन मैने सत्ताधारी पक्ष के नेता की दुकान से खरीदा है। मैने जनता के भले के लिए प्राण देने का संकल्प कर लिया है। मैं सरेआम जनता के हितों की हत्या नहीं देख सकता। जनता ने हमें चुनकर म्युनिसिपैलिटी में भेजा है और हमारा नैतिक कर्तव्य है कि हम उसकी सेवा करें। जब–जब हमने सत्ता संभाली, हमने सर्वस्व व्यंग्यकार नगर की सेवा की। हमारी दुकान बरबाद हो गई, पर हमने परवाह नहीं की। आप जानते हैं, मुझे मजबूर होकर एक और दुकान खोलनी पड़ी।''[4]

सत्ता की कुर्सी पर बैठने के लिए आज का नेता अपना ईमान, धर्म सबका परित्याग कर देता है। परसाई जी ने 'एक दीक्षांत भाषण' में एक नेता का स्वगत–कथन का वर्णन करते हुए लिखा है–

''मैंने समझ लिया कि मेरे जीवन का सत्य मंत्री बनना है, इस सत्य को मैंने कभी नहीं छोड़ा। इस सत्य के लिए मैंने ईमान, धर्म सबका परित्याग किया। सत्य के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना पड़ता है।''[5]

नेता सत्ता में जनता द्वारा चुनकर भेजा जाता है किन्तु वह जनकार्य न कर अपने रिस्तेदारों, सगे–सम्बन्धियों के काम करने में व्यस्त रहता है। इस विकृति पर परसाई जी ने 'हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं' व्यंग्य में एक नेता का चित्र प्रस्तुत किया है जो चुनाव जीतकर सरकार बनाने का दावा करता है और कहता है–

''हमारे भाई–भतीजे, मामा, मौसा, फूफा, साले, बहनोई जो जहॉ भी हो बिहार में आकर बस जाऍ और रिस्तेदारी के सबूत सहित जीवन सुधरवाने की दरख्वास्त अभी से दे दें।''[6]

इन नेताओं की बिना चुनाव जीते यह स्थिति है उनका जीतने के बाद क्या हाल होगा। भारत की भोली–भाली जनता की सहज श्रद्धा, पवित्र भावनाओं के साथ नेता वर्ग खिलवाड़ कर रहा है। इस पर परसाई जी बड़ी ही सरलता एवं सहजता के साथ धारदार वाक्यों से प्रहार करतेहैं। 'अकाल उत्सव' में परसाई जी नेताओं की पोल खोलते है वे लिखते है–

''साल में दस महीने पहलवान ऐलान करता है– इस साल वो रियाज किया है कि कोई अखाड़े में मुकाबले में नही उतर सकता। चुनौती देता हूँ– कोई अप्रैल मई में लड़ ले। मगर पहलवान को अप्रैल में टाइफाइड हो जाता है और कहते है– अब मैं लाचार हूँ टाइफाइड ने सारी बादाम उतार दी। मंत्री लोग ऐसे ही पहलवान हैं– नौ महीने ताल ठोकते हैं– अन्न का अभाव सामने आने की हिम्मत नहीं कर सकता। इतने लाख क्विंट का स्टाक होगा। 'लेव्ही' ली जायेगी लड़ ले कोई जमाखोर–पछाड़ दिया जाएगा। मगर मई आते ही उसे भी टाइफाइड हो जाता है। कहता है– क्या करूँ? जमाखोरी का 'टाइफाइड' सरकार को हो गया। ..... मई में वीर मंत्रियों की भी बादाम उतर जाती है।''[7]

नेता अपना काम निकालने के लिए कभी जाति को सहारा बनाते हैं तो कभी धर्म और संस्कृति को। राजनीति में होने वाले ढोंग–कोसलों से परसाई जी दुखी ही नहीं चिन्तित भी हो जाते हैं। आज के युग में नेता जिस तरह से अपनी चाल बदलकर अपने आप को बड़ा बना लेता है, इससे तो यह प्रतीत होता है कि अगर ऐसे नेताओं के हाथ में देश की बागडोर होगी तब तो इस देश का भगवान ही मालिक है।

नेता चुनाव में कभी दीन बनकर तो कभी डरा धमकाकर जनता से वोट हथियाता है और सत्ता में आकर उसी जनता जनार्दन की लताड़ना–दुत्कारता है। परसाई जी के शब्दों में– ''जनता कच्चा माल है। इसे पक्का माल विधायक, मंत्री आदि बनाते हैं। पक्का माल बनाने के लिए कच्चे माल बनाने के लिए कच्चे माल को मिटना ही पड़ता है।''[8]

आजकल चुनाव में नए और युवा लोगों को महत्व दिया जा रहा है लेकिन वे राजनीतिक हथकंडों से अनभिज्ञ होते हैं वे नहीं जानते कि पुराने आदमी को चुनाव जीतने की सब तरकीबे मालूम हैं नए लोगों को चुनाव में लाकर चुनाव हारना है क्या? परसाइ ने 'नया खून–पुराना खून' रचना में ऐसी ही चुनाव पद्यति पर व्यंग्य किया है–

''साधों, पार्टी की दृष्टि से भी देखो। पुराने आदमी को चुनाव जीतने की सब तरकीबे मालूम हैं। वह जानता है कि किससे वोट लिया जा सकता हे। उसका जीतना निश्चित है। नया आदमी एक चुनाव तो सीखने में ही हार जायेगा। पार्टी नए खूनों को टिकटें देकर क्या चुनाव हारेगी?''[9]

परसाई जी अपने निबंधों में देश की राजनीति पर व्यंग्य रूपी धारदार तलवार से वार करते हैं वे जनता को सचेत करने का प्रयास करते है जिससे जनता जागरूक हो और वह ऐसे नेताओं एवं मंत्रियों से बच सके जो जनता की भलाई की बात कर पीठ में छुरा मारने का प्रयास करते हैं। परसाई जी ने राजनीतिक विसंगतियों को समझा और व्यंग्य साहित्य से उनपर जमकर कटाक्ष किया, जो कि राजनीतिक सुधार के लिए अतिआवश्यक है। व्यंग्य को ऊँचाइयों के शिखर पर पहुँचाने में परसाई जी का विशेष योगदान रहा है। देश के सुधार में इनका ये कार्य अविस्मरणीय रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. नगेन्द्र 'मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड, पृ.228
2. हरिशंकर परसाई, सदाचार का ताबीज, कैफियत, पृ.11
   भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली।
3. सदाचार का ताबीज– कैफियत, हरिशंकर परसाई, पृ.1
   भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली।

4. निठल्ले की डायरी, नगर पालक, हरिशंकर परसाई, पृ.75–76
राजकमल प्रकाश नई दिल्ली।
5. शिकायत मुझे भी है, एक दीक्षांत भाषण, हरिशंकर परसाई, प्र. 92
राजकमल प्रकाश नई दिल्ली।
6. ठिठुरता हुआ गणतंत्र, हम बिहार मे चुनाव लड़ रहे है, हरिशंकर परसाई, पृ.40,
राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।
7. प्रतिनिधि व्यंग्य, अकाल उत्सव, हरिशंकर परसाई, पृ.100
राजकमल प्रकाश नई दिल्ली।
8. ठिठुरता हुआ गणतंत्र, हम बिहार में चुनाव लड़ रहे है, हरिशंकर परसाई, पृ.38
राजकमल प्रकाश नई दिल्ली।
9. नया खून–पुराना खून, हरिशंकर परसाई, दैनिक भास्कर समाचार पत्र से शनिवार 17 मार्च 2018
पृ.8।

मध्यकाल में पोथी–चित्रण का तकनीकी अध्ययन
(10वीं से 15वीं शताब्दी तक)

डॉ. पूनम रानी * एवं सपना अग्रवाल **

भारत वर्ष में पूर्व मध्यकाल की चित्रकला के उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते हैं यद्यपि इस समय में भित्ति–चित्रण प्रचुर मात्रा में हुआ हैं। जिसके परिमाण ऐलौरा व सित्तनवासल की गुफाओं में प्राप्त होते हैं। चित्रकला की दृष्टि से मध्यकाल को दो भागों में बांटा गया हैं :–

- 700 से 1000ई0 तक – पूर्व मध्यकाल।
- 1000 से 1550 ई0 तक – उत्तर मध्यकाल।[1]

इस समय के साधारण स्तर के कुछ भित्ति चित्रों के उदाहरण प्राप्त होते हैं जो दक्षिणी भारत या गुजरात में बनाए गये थे। और जो व्यापक रूप से प्रचलित उदाहरण प्राप्त हुए हैं वह भित्ति चित्र नहीं हैं, बल्कि पोथी या पुस्तक चित्र हैं। इनमें से कुछ उदाहरण बंगाल में लिखी गयी बौद्वपोथियों (पाल शैली की पोथियां) में व कुछ मुख्यतः गुजरात या पश्चिमी भारत में लिखी गई जैन पोथियों में प्राप्त हैं।

फलतः जैन समुदाय ने अपनी पवित्र ज्ञान–विधि की सुरक्षा के लिये अनेक प्रकार के प्रयास किये। पाटलीपुत्र में जैन साधुओं की संगति आयोजित की गयी जहां जैन सिद्वान्त साहित्य को क्रमबद्धरूप में संचित कर लिपिबद्ध किया गया। आगे चलकर ईसा की पांचवी शताब्दी में श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार गुजरात के वर्लाभ में साधुओं की एक संगति हुई जिसने यह निर्णय किया कि समस्त धार्मिक मूल–पाठों को लिपिबद्व किया जाये।[2] ईसवीं सन् के प्रारंभिक वर्षों में दो दिगंबर जैन साधुओं ने एक–दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र रूप में जैन धर्म के बिखरे हुये ज्ञान के विषद् भण्डार को संग्रहित कर लिपिबद्व किया।[3] यह संग्रह मुख्य रूप से दो शैलियों – पाल शैली व जैन शैली में प्राप्त हुआ हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार हैं :–

1. पाल शैली

बंगाल तथा बिहार में पाल राजाओं के शासन में बौद्वधर्म तथा अजन्ता की परम्पराओं को लेकर जो चित्र–शैली प्रचलित हुई उसे पाल शैली कहा जाता हैं।[4] 9वीं से 12वीं शताब्दी तक बंगाल में पाल वंश के शासकों धर्मपाल और देवपाल के शासन में विशेष रूप से विकसित होने वाली पाल शैली की चित्रकला की विषयवस्तु बौद्वधर्म से प्रभावित रही हैं। प्रारम्भ में ताड़पत्र और बाद में काग़ज़ पर बनाये जाने वाले चित्रों में वज्रयान बौद्वधर्म के दृष्य चित्रित हैं।[5]

पाल राजाओं का इतिहास

सातवीं शताब्दी के मध्य सम्राट हर्ष के पश्चात् बंगाल की शासन व्यवस्था लगभग सौ वर्षों तक अव्यवस्थित रही और 730.740 ई0 के मध्य बंगाल की जनता ने विद्रोह आरम्भ कर दिया। बंगाल की जनता ने गोपाल नामक एक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया। राजा गोपाल बंगाल के पाल वंश का प्रथम शासक था और अन्तिम शक्तिशाली शासक राजा रामपाल हुआ। पाल राजाओं का शासन 735 ई0 से 1162 ई0 तक रहा। यह राजा बौद्वधर्म के अनुयायी थे।

---

* असिसटेंट प्रोफेसर, मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़

** शोधार्थी, मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़

इस समय बौद्ध कला की छटा कुछ मद्धिम हो चली थी (फिर भी पाल शासकों ने स्थापत्य कला, चित्रकला और मूर्तिकला को नई उच्चाइयां प्रदान की। इसके उदाहरण आलोच्य पांडुलिपियों की चितरकारीयां और सरायटीले के भित्तिचित्र हैं। ऐसा देखने में मिला हैं कि इस समय अजन्ता शैली में चित्र बनाये गये थे जिसके सर्वोत्तम नमूने नेपाल के शाही दरबार, रॉयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, कला भवन काशी, महाराजा संग्रहालय बड़ौदा तथा बोस्टन संग्रहालय अमेरिका में सुरक्षित हैं।[6]

पाल पोथी चित्रण एंव विशेषताएं

16वीं शती के इतिहासकार लामा तारानाथ ने इसे 'पूर्वी–शैली' कहा हैं। लामा तारानाथ के अनुसार पूर्वी शैली (पाल शैली) का कार्य वारेन्द्र (उत्तरी बंगाल) में धर्मपाल व देवपाल के शासन में दो चित्रकारों ने किया – धीमान व उसके पुत्र बितपाल ने। तारानाथ ने इन्हें पाल चित्रकला का संस्थापक माना हैं।

बंगाल तथा बिहार में लिखी गई दसवीं शताब्दी एंव परवर्ती काल की महायान बौद्धधर्म से सम्बन्धित अनेक पोथियों के चित्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार की सचित्र पोथियों में अष्टसंहस्त्रिका, प्रज्ञापारणिता ग्रन्थ, साधनामाला, पंचषिखा, बोधिचर्यावत्र, गदाव्यूह ग्रन्थ, करनदेवगुहा, महामयूरी आदि महायान बौद्वपोथियां प्राप्त हैं।[7]

● विषयवस्तु – पाल शैली के चित्रों में महायान बौद्धदेवी–देवताओं की जातक कथाओं तथा बौद्वतीर्थ स्थलों के चित्र बने हैं। चित्रों को अत्यधिक शोभामान बनाया गया तथा ये चित्र लद्यु–चित्रण शैली में बनाये गये हैं।

● पृष्ठभूमि – इस शैली में स्याही चमकीली एंव चटक होती थी। कुछ ग्रंथों में काली पृष्ठभूमि पर सफेद स्याही से लिखा गया हैं। पन्नों के बीच में आयताकार और वर्गाकार चित्र बनाये गये हैं। हैं।

● रेखा – रेखाओं में कोमलता का अभाव हैं। रेखाओं में प्रवाह तो हैं किन्तु लय व भावों का अभाव हैं। सशक्त रेखाएं अजन्ता के समान बनायी गयी हैं। भयावह आकृतियां महायान संप्रदाय के अनुरूप चित्रित की गयी हैं।

● रंग – इन चित्रों में लाल, नीला, सफेद, पीला और काला, ये ही रंग प्रयुक्त हुए हैं। लाल रंग सिंदूर, हिंगुल तथा महावर का हैं। नीला रंग नील तथा लाजवर्दी का हैं। पीला रंग खनिज रंग हैं। इन्हीं रंगों के मिश्रण से अन्यरंग (हरा, गुलाबी, बैंगनी, सलेटी आदि) तैयार किये गये हैं।[8]

चित्र सं0–1

पाल शैली में चित्रित पाण्डुलिपि अष्टसाहित्रिका प्रज्ञापरमिता का एक चित्र, समयकाल 12वीं शताब्दी का प्रारंभ

● आकार – इन चित्रों में चेहरे प्रायः एक ही तरह से बनाए गये हैं। सिर चपटे तथा छोटे हैं। देवी–देवताओं तथा प्रधान आकृतियों की मुखाकृतियां सम्मुखता लिये हुए हैं एंव अन्य आकृतियां डेढ तथा दो चश्म में अंकित हैं (चित्र सं0–1)। मानव आकृतियों की नाक लम्बी और तीखी हैं तथा चेहरे की सीमा से बाहर जाती हुयी पतली आंख का भी अंकन मिलता हैं। हाथ–पैरों की मुद्राओं में निंबलता तथा अकड़ता दिखाई

देती हैं। आकृतियों के खड़े या बैठे होने का एक निश्चित रूप हैं तथा अंतराल में लघुता के कारण डेढ़ के अनुपात में विकृति के दर्शन होते हैं।

● अलंकारिकता – इस शैली में अलंकारिकता का पर्याप्त चित्रण होने के कारण आकृतियों में सजीवता एंव स्वच्छंदता का अभाव हैं। चित्रों में नीरसता दिखाई देती हैं। आकृतियों के आभूषणों, वस्त्रों व चित्र की पृष्ठभूमि में अलंकारिकता का प्रयोग किया गया हैं। ये चित्र अजन्ता के बाद बने, इसलिये इसमें अजन्ता के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते हैं।

2. जैन शैली

प्राचीन काल से अब तक चित्रकला की अनेक शैलियां विकसित हुई, जिनमें से जैन चित्रशैली इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। वास्तव, में ये शैली अपने तेजस्व को खो चुकी थी। डॉ0 रायकृष्णदास के अनुसार, यह एक महान् अजन्ता शैली का विकृत रूप थी। इन चित्रों को चित्रित करते समय अपभ्रंशता आ गयी थी। ये शैली अपनी मूल विशेषताओं को खो चुकी थी, इस कारण से इस शैली को अपभ्रंष शैली कहा गया हैं।

अपभ्रंष शैली को गुजरातशैली, जैन शैली, पुस्तक शैली, सुलिपि शैली अथवा पश्चिम भारत शैली भी कहा जाता हैं इस शैली का पता सर्वप्रथम कुछ चित्रित जैन ग्रन्थों से लगा था अतः इसे जैन शैली कहा गया।[96]

जैन शैली का इतिहास

भारत के अनेक स्थानों पर जैन स्थापत्य कला, मूर्तिकला व चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। जैन चित्रकला का सबसे प्राचीन चित्रित उदाहरण मध्यप्रदेश के सरगुजा राज्य की जोगीमारा गुफा में मिलता हैं। जिसका समय दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का हैं। 11वीं शताब्दी तक जैन भित्ति चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ, जिनके उदा0 सित्तनवासल व एलौरा आदि गुफाओं में मिलते हैं। इसके बाद जैन पोथी परंपरा का आरंभ हुआ और ताडपत्रों, कागजों एवं वस्त्रों पर इस कला शैली का क्रमिक विकास होता चला गया।

ताडपत्र पर अंकित कल्पसूत्र (29 चित्र) तथा कालकाचार्य कथा के आधार पर निर्मित महावीर स्वामी, पार्ष्वनाथ, नेमिनाथ, ऋषभनाथ तथा अन्य 20 तीर्थकर महात्माओं के दृष्टांत जैन चित्रकला के प्राचीन उदा0 हैं। जैन शैली में धार्मिक, प्राकृतिक, स्वतंत्र एंव अलंकारिक आदि प्रकार का चित्रण हुआ हैं।

जैन पोथी चित्रणएंव विशेषताएं

जैन शैली के चित्र प्रायः जैन सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रंन्थों में मिलते हैं। ष्वेताम्बर जैन धर्म से सम्बन्धित जैन शैली के ताड़पत्रीय ग्रन्थ चित्रों में 'अंगसूत्र', 'ओद्यर्निर्युक्ति', 'त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित', 'कथासरितसागर', 'उत्तराध्ययनसूत्र', 'कल्पसूत्र', 'नेमिनाथ–चरित', 'निषीथचूर्णी', 'दशवैकालिकलघुवृत्ति', 'संग्रहणीयसूत्र', 'श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी' उल्लेखनीय हैं। इन सचित्र पोथियों का लिपिकाल 1100.1500 के मध्य माना जाता हैं। ये सभी पोथियां आज भारत के बडौदा, पाटन, खंभात, अहमदाबाद तथा जैसलमेर के निजी ग्रन्थागारों तथा अमेरिका के बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[10]

दिगम्बर जैन धर्म से सम्बन्धित, जैन शैली के ताड़पत्रीय ग्रन्थों में शट्–खण्डागम, महाबन्ध और

कशाय–पाहुड प्राचीन सचित्र पाण्डुलिपियां हैं। ये पाण्डुलिपियां कर्नाटक स्थित मूडबिद्री के जैन सिद्वान्त–बसदि के संग्रह में सुरक्षित हैं।

इन तीनों पाण्डुलिपियों में से मात्र शट्–खण्डागम की पाण्डुलिपि ही तिथियुक्त हैं। यह तिथि सन् 1112 हैं। अन्य दोनों पाण्डुलिपियां भी अनुमानतः इसी काल के लग–भग, सन् 1112 से 1120 की मध्यावधि में रची गयी होगी।[11]

● विषयवस्तु – जैन चित्रों में प्रतीकता का अंकन प्रायः सर्वत्र हुआ हैं। जैन धर्म में महावीर स्वामी की माता त्रिशाला के सोलह स्वप्नों को इसी प्रकार अंकित किया गया हैं। इन चित्रों में 24 तीर्थकरों एंव अधिष्ठात्री देवियों के प्रतीक चिन्ह तथा शिक्षा तरू बताये गये हैं। जैन धर्म में अष्टमंगल दृष्यों की कल्पना की गयी हैं। इस शैली में नारी रूपों का अंकन एक सीमा में हुआ हैं।

● पृष्ठभूमि – पृष्ठभूमि में बहुधा लाल रंग का सपाट प्रयोग किया गया हैं और पीले, श्वेत व नीले रंगों का समावेष किया गया हैं। सीमा रेखाएं काली स्याही से बनी हुई और ऐसी लगती हैं जैसे किसी लेखनी से बनाई गई हों।

● रेखाएं – इन चित्रों में रेखांकन कठोर, निर्बल और अत्यधिक अंलकारिक तथा रूढिबद्ध हैं। इन चित्रों की रेखाएं एक–सी मोटाई एंव कठोरता से पूर्ण हैं। रेखाओं में उतार–चढ़ाव से लगता हैं कि वे निव या कलम से बनी हैं। रेखाएं काले रंग से बनायी गयी हैं।

● रंग – इस शैली के चित्रों में अधिकांष चमक या उष्ण चटक रगों का प्रयोग हैं। लाल, नीला, श्वेत, फाख्ताई और पीला रंग प्रमुखता से लगाया गया हैं (चित्र सं0–2)। तीर्थकरों के अनेक रूपों में भिन्न–भिन्न प्रकार के रंगों का प्रयोग हुआ हैं। महावीर स्वामी की आकृति में नीला, नेमिनाथ की आकृति में काला और ऋषभनाथ की आकृति में स्वर्णिम वर्ण का प्रयोग हैं। चित्रों में अनेक आकृतियों की रेखायें काले रंग से की गयी हैं।

चित्र सं0–2

जैन संत पार्श्वनाथ (कल्पसूत्र की पृष्ठ सं0–60)

● आकार – इस शैली में सवाचश्म चेहरे, नाक अनुपात से लम्बी, आंखें पास–पास तथा बड़ी–बड़ी बनायी गयी हैं। अंगभंगिमा प्रायः जकड़ी हुयी–सी प्रतीत होती हैं। उनके सिर कपड़े की बत्ती जैसे लगते हैं। अंगुलियां ऐंठी हुई–सी ज्ञात होती हैं। रेखायें वृत्ताकार के स्थान पर कोणांकार प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

● अलंकारिकता – प्रकृति का आलेखन अलंकारिक रूप में हुआ हैं। इसके चित्रों में स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता का अभाव हैं। बसन्त विलास में पत्ती के चारों ओर एक इंच चौड़ा हाशिया बनाया गया हैं। इन हाषियों के रिक्त स्थान को अंलकारिक आलेखनों के द्वारा सुन्दर बनाया गया हैं। कलाकारों एंव विद्वान मुनियों ने भी स्वर्णमय और रजतमय स्याही से मूल्यवान चित्रों एंव पोथियों का निर्माण किया।

पोथी चित्रण की तकनीक

प्राचीन ग्रंथों में चित्रण के लिये जो आधार–तल (सतह) प्रयुक्त हुई हैं उनमें ताड़पत्र, कपड़ा, अगरू वल्कल, कागज़ तथा लकड़ी का पट प्रमुख थे।

ताड़पत्रीय चित्रण – ग्रंथ के लिये प्रायः पूरे भारत में ताड़पत्र का व्यापक प्रयोग हुआ। इसके चिकनेपन ने लेखन को सुविधाजनक बनाया और लचीलेपन के कारण इसका अधिक सुरक्षित होना भी ग्रंथ–चित्रण के लिये लाभदायक सिद्वहुआ। इसलिये पाल, जैन तथा जैनेतर धर्म ग्रंथों के लेखन के लिये ताड़पत्र बहुतायत से काम में लाया गया। ताड़पत्र को पवित्र तथा शुद्वमाना जाता था अतः धार्मिक ग्रंथों के लेखन में इसे अधिक महत्व दिया गया। इन सभी गुणों के साथ इसकी चौड़ाई अधिक न होने के कारण चित्रण के लिये अत्यंत संकरा क्षेत्र मिला। ग्रंथ लेखन तथा चित्रण के लिये जिस वृक्ष की पत्ती काम आती थी उसे संस्कृत में ताल तथा हिन्दी में ताड़ कहते हैं। यह पोथियां उत्तम प्रकार के तालपत्रों को छाया में सुखाकर बनाये गये पत्रों पर तैयार की गयी हैं। इन ताडपत्रों की औसतन लम्बाई 21''–36'' तथा चौडाई 2.5''–3'' होती हैं। प्रत्येक पत्ती में दोनों छोरों के पास केन्द्र में छेद करके उसमें सिल्क का मोटा धागा डाल दिया जाता था तथा इनकी सु रक्षा के लिय दोनो ओर पटरे लगाये जाते हैं। इन पत्रों के दोनों ओर बड़े सुंदर ढंग से देवनागरी लिपि मे लिखा जाता था (चित्र सं0–3) तथा अध्याय के अंत में कमल, कलष तथा अन्य प्रतीकों एंव ज्यामितीय डिजाइन के अंकन का प्रचलन था।

चित्र सं0–3

पाल शैली में ताड़पत्र पर निर्मित अष्टसहिस्त्रिका प्रज्ञापरमिता से एक पृष्ठ, समयकाल 12वीं शताब्दी का प्रारंभ

चित्रित ग्रन्थों में संघवीना पादानों भंडार पाटन का ताड़पत्रीय ग्रंथ 'निशीथचूर्णी' (1100 ई0) अनके विद्वानों द्वारा प्राचीनतम माना जाता रहा किन्तु नई खोजों द्वारा जैसलमेर ग्रंथ–भण्डार का 1060 ई0 का ताड़पत्रीय ग्रंथ 'औघनिर्युक्ति वृत्ति तथा दशवैकालिक सूत्र वृत्ति' प्राचीनतम उपलब्ध चित्रित ग्रंथहैं।[12]

कपडे पर चित्रण – प्राचीन भारत में घनी बुनावट का कपड़ा चित्रण तथा लेखन के लिये प्रचलित आधार–तल रहा हैं। 'संयुक्त निकाय' में कपड़ा और चिकना किये हुए लकड़ी के पट पर चित्रण का उल्लेख हैं। अनेक संस्कृत ग्रंथों में कैनवास जैसे कपड़े पर चित्रण का उल्लेख हैं, (चित्र सं0–4)। कपड़े की पट्टी पर चित्रण से पूर्व गें हूं अथवा चावल के आटे को पकाकर उसके घोल का अस्तर लगााया जाता था। अस्तर के सूख जाने पर इस कपड़े को एगेट पत्थर के घोटे से घोटा जाता था। अपभ्रंष षै ली मे कपड़े पर चित्रण का यह विधान सर्वत्र प्रचलित था।

चित्र सं0–4

1400–1425 ई0 में निर्मित, विविध तीर्थ–पट्ट

पाटन के एक भण्डार में 'धर्मविधि प्रकरण वृत्ति सहित',

'कच्छुलिरास' तथा 'त्रिषस्तिषलाका पुरूष चरित' के आठ अध्याय कपड़े पर उपलब्ध हैं। इनका समय 1351.1353 ई0 हैं। इसके पृष्ठ ताड़पत्र जैसी आकृति के हैं।[13]

अगरू–वल्कल पर चित्रण – अनेक संस्कृत ग्रंथों में अगरू वल्कल पर चित्रित सु न्दर ग्रंथों का उल्लेख हैं। आसाम में प्राप्त प्राचीनतम चित्रित ग्रंथ भागवत दशम स्कन्ध हैं जो 1539 ई0 की हैं। मध्यकाल में अगरू वल्कल 'सांचीपात' नाम से भी जाना जाता था जिसका अर्थ था 'पत्र में सं चित ज्ञान'। अगरू वल्कल पन्द्रह सोलह वर्ष की आयु के वृक्ष से उतारा जाता था। वृक्ष की गोलाई और उंचाई के अनुसार तीन इंच से पच्चीस इंच तक चौड़े तथा अनुमानतः दस पन्द्रह फीट लम्बे पत्र होते थे।[14]) (चित्र सं0–5)

चित्र सं0–5

सांची पट पर पाण्डुलिपि, असम के ऐतिहासिक एंव पुरातात्विक अध्ययन विभाग में संरक्षित

कागज़ पर चित्रण – एक सौ पांच ईस्वीं में चीन में साइलमन के द्वारा कागज़ का आविष्कार हुआ। बांस या टाट–जूट से बना हुआ तथा तुलत कागज रूई से या कपड़े से बना हुआ जाना जाता था। यह अत्यंत सफेद होता था। परन्तु भारतवर्ष में कागज का प्रचलन ग्रंथ लेखन के लिये कब से प्रारम्भ हुआ यह निश्चित रूप से कहना कठिन हैं।

उमाकान्त प्रेमानन्द शाह के मतानुसार कागज पर लिपिबद्धकी गई सबसे प्रारंभिक जैन सचित्र पाण्डुलिपि 'कल्पसूत्र– कालकाचार्य– कथा' हैं (चित्र सं0–6) जिसका रचनाकाल विकृम संवत् 1403 (1346ई0) हैं। इस पाण्डुलिपि का फलक कम चौड़ा हैं जिसका माप 28 8.5 सेण्टीमीटर हैं और एक पृष्ठ पर मात्र छह पंक्तियां लिखी गई हैं।[15]

चित्र सं0–6

1375 ई0 में निर्मित, कागज़ पर प्राप्त कल्पसूत्र–कालकाचार्य कथा का पृष्ठ–37

काष्ट–पटलियों पर चित्रण – ताड़पत्रीय ग्रंथों को चित्रित करने की परंपरा के साथ ही लकड़ी के फलक पर चित्रण के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ग्रंथों की सु रक्षा के लिये उन पर उसी आकार में लकड़ी की पटली लगाकर वेष्ठन से बांध दी जाती थी और उन पर भी उसी प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। (चित्र सं0–7)

जैसलमेर के प्रसिद्ध जैन भण्डार में दो सचित्र पटलियां (पाण्डुलिपियों के काष्ठ निर्मित आवरण) उपलब्ध हैं, जिन पर जैन मूर्तिषास्त्र की विद्यादेवी के चित्र अंकित हैं। इन विद्यादेवियों के चित्रण की प्रेरणा स्पष्टतः पालकालीन बौद्ध पाण्डुलिपियों के चित्रों से ली गई हैं। इन पटलियों की रचना प्रसिद्धजैन विद्वान जिनदत्त–सूरि के जीवनकाल में हुई।[16]

चित्र सं0–7

दिगम्बर जैन परंपरा में निर्मित, एक काष्ठ आवरण सहित ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि

निष्कर्ष

इस अध्ययन के पश्चात् निश्चित तौर पर हम यह कह सकते हैं कि 7वीं से 12वीं शताब्दी तक संपूर्ण भारत को प्रभावित करने वाली शैलियों में पाल व जैन शैली का प्रमुख स्थान हैं। इन दोनों शैलियों में बने चित्र पारंपरिक धार्मिक विषयवस्तु पर आधारित हैं। 1100 से 1500 ई0 तक पोथी चित्र परंपरा का विकास हुआ औ रये चित्र पूरे भारतवर्ष में व्यापकता से चित्रित हुये, इसलिये इस कला का ऐतिहासिक महत्व हैं।

अब तक प्राप्त चित्रों व ग्रंथों में से जैनशैली की कागज़ पर चित्रित देवषानपाड़ा (अहमदाबाद) स` प्राप्त कल्पसूत्र पोथी कलात्मक दृष्टि स` सर्वाधिक सुंदर एवं महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त जैन शैली के विषय में यह भी कहा जा सकता हैं कि जैन शैली के श्वेतांबर धर्म से संबंधित अनेक ग्रंथ सामने आ चुके हैं, परंतु दिगम्बर संप्रदाय के ग्रंथों की इस दृष्टि से खोज होनी अभी शेष हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. कला और कलम, डा0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, अशोक प्रकाशन मंदिर अलीगढ़, 2010, पृष्ठ सं0–99
2. कासलीवाल (के), जैनग्रंथ भण्डार्स इन राजस्थान, 1967, जयपुर पृष्ठ–2
3. (जैन) हीरालाल कृत भूमिका–भाग, शट्खण्डागम, 1947, अमरावती
4. कला और कलम, डा0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, अशोक प्रकाशन मंदिर अलीगढ़, 2010, पृष्ठ सं0–103
5. http://bharatdiscovery.org/india/ पाल चित्रकला
6. http://gyanpradayani.blogspot.in/2016/06/blog-post_27.html
7. दृष्य कला यू0जी0सी0 नेट/जे0आर0एफ0/सेट, डा0 आभा सिंह, उपकार प्रकाशन, आगरा–2, पृष्ठ सं0–93
8. कला और कलम, डा0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, अशोक प्रकाशन मंदिर अलीगढ़, 2010, पृष्ठ सं0–108
9. कला और कलम, डा0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, अशोक प्रकाशन मंदिर अलीगढ़, 2010, पृष्ठ सं0–109
10. डा0 रीता प्रताप, भारतीय चित्रकला एंव मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2012, जयपुर – 302004, पृष्ठ सं0–118
11. जैन कला एंव स्थापत्य – खण्ड 3, पृष्ठ–420
12. डा0 शुकदेव श्रोत्रिय, भारतीय चित्रकला शोध–संचय 1997, चित्रायन प्रकाशन, मुजफरनगर (उ0प्र0), 251001, पृष्ठ सं0–97
13. डा0 शुकदेव श्रोत्रिय, भारतीय चित्रकला शोध–संचय 1997, चित्रायन प्रकाशन, मुजफरनगर (उ0प्र0), 251001, पृष्ठ सं0–98
14. डा0 शुकदेव श्रोत्रिय, भारतीय चित्रकला शोध–संचय 1997, चित्रायन प्रकाशन, मुजफरनगर (उ0प्र0), 251001, पृष्ठ सं0–98
15. जैन कला एंव स्थापत्य – खण्ड 3, पृष्ठ सं0–414
16. जैन कला एंव स्थापत्य – खण्ड 3, पृष्ठ सं0–403

कानपुर नगर के गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का समीक्षात्मक अध्ययन

किरन चतुर्वेदी *

प्रस्तावना

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) अधिक प्रचलित तथा सामान्य अर्थ में सूचना के प्रबन्ध तथा संचार में तकनीकी का प्रयोग है। अधिक विशिष्ट रूप में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी को सभी अनुमानित डिजिटल मीडिया का सूचना के प्रबन्धन तथा संचार में प्रयोग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत शिक्षा प्रक्रिया में रेडियो, टी0वी0, कम्प्यूटर, इन्टरनेट, मल्टीमीडिया, टेलीकम्यूनिकेशन आदि का प्रभावी उपयोग किया जाता है।

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) युक्त अधिगम वातावरण शिक्षक व अधिगमकर्ता दोनों के लिए कई सारे विकल्प पैदा करता है। सक्रिय प्रभावपूर्ण व अर्थपूर्ण अधिगम वातावरण के लिए आवश्यक है कि अधिगमकर्ताओं के बीच उचित सहयोग, विलय एवं सम्प्रेषण हो जो केवल सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के द्वारा सम्भव है। साक्ष्य प्रदर्शित करते हैं कि शिक्षण अधिगम में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग अधिगम की गुणवत्ता को बढ़ा सकता है तथा अधिगमकर्ता को अधिक स्वतन्त्र बनाकर उसे जीवन पर्यन्त अधिगमरत रहने के लिए सामर्थ्य प्रदान कर सकता है। अधिगम में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का किसी भी प्रकार का उपयोग ज्ञान के विभिन्न तथ्यों के निर्माण में योगदान देता है। गहन विश्लेषण में यह प्रदर्शित हुआ है कि वे छात्र जो ICT आधारित अनुदेशन प्राप्त करते हैं वे इसका उपयोग न करने वाले छात्रों से अधिक शैक्षिक उपलब्धि प्राप्त करते हैं अर्थात् छात्र प्रेरणा तथा कार्य लगन की प्रवृत्ति में वृद्धि होने के कारण अपने लक्ष्य को आसानी से प्राप्त करते हैं। सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी अधिगम वातावरण के साथ चेतना के तत्वों के संयोजन तथा उद्देश्य के लिए क्रियात्मक वातावरण के द्वारा शिक्षण और अधिगम की परिवर्तनशील प्रक्रिया है। अतः शिक्षा तन्त्र के परिवर्तन व आधुनिकीकरण में ICT का महत्वपूर्ण योगदान है ताकि 21वीं सदी की शिक्षा के ह्रदय का पुर्न निर्माण हो सके।

अतः सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी ICT के पास उन गतिरोधों को दूर करने की क्षमता है जो किसी भी देश की शिक्षा की दर में समस्या का कारण बनते हैं। अतः शिक्षा प्रक्रिया में ICT का किस प्रकार उपयोग किया जा रहा है तथा ICT उपयोग के अधिक सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त करने के लिए कौन से उपाय या परिवर्तन किए जा सकते हैं अर्थात् समस्या का क्या उपचार हो सकता है, ये सभी इस शोध के विचारणीय विषय है। प्रस्तुत शोध कार्य में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी ICT के उपयोग के विषय में अध्ययन किया गया है।

समस्या कथन

''कानपुर नगर के गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का समीक्षात्मक अध्ययन''

* शोध छात्रा (शिक्षा–प्रशिक्षण विभाग), दयानन्द सुभाष नेशनल पी.जी. कालेज, उन्नाव, छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

शोध के उद्देश्य

(1) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन करना।

(2) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा विद्यालय के प्रकारों (गैर अनुदानित, अनुदानित, शासकीय) के प्रभाव का अध्ययन करना।

(3) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा लिंग के प्रभाव का अध्ययन करना।

शोध परिकल्पनाएं

(1) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(2) गैर अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं सूचना प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(3) अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(4) शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(5) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा विद्यालय के प्रकारों का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(6) छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(7) छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(8) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा लिंग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

परिसीमाएं

(1) प्रस्तुत शोध कार्य हेतु कानपुर नगर के गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थियों का चयन किया गया है।

(2) प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत केवल उच्चतर माध्यमिक स्तर के कक्षा 12 के 900 विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है।

(3) प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत केवल यू.पी. बोर्ड के विद्यार्थियों को ही चयनित किया गया है।

प्रस्तुत शोध कार्य से सम्बन्धित अध्ययन

जियामनी, पी. (1991) ने कम्प्यूटर सहायक अनुदेशन (CAI) का कक्षा–11 के छात्रों के लिए भौतिक विज्ञान में अध्ययन किया और निष्कर्ष प्राप्त किया कि CAI के माध्यम से अध्ययन करने वालों ने परीक्षा में बेहतर प्रदर्शन किया।

स्मीट्स (2005) ने शक्तिशाली अधिगम वातावरण के लिए सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के योगदान के बारे में अध्ययन किया और निष्कर्ष प्राप्त किया कि ICT शिक्षक कौशल में वृद्धि करके शक्तिशाली अधिगम वातावरण उत्पन्न करने में मदद करता है तथा छात्र क्रियाशीलता व स्वतन्त्र अधिगम को प्रेरित करता है।

अन्डरवुड व अन्य (2007) ने विद्यालयों में तकनीकी विषय पर अध्ययन किया और पाया कि माध्यमिक स्तर पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रति लड़कियां लड़कों से कम क्रियाशील थीं।

किचेन व अन्य, (2007) ने प्राइमरी व सेकेन्डरी स्कूलों में ICT के उपयोग के विषय में अध्ययन किया और पाया कि शिक्षको के अनुसार ICT का लड़कों एवं लड़कियों दोनों पर धनात्मक प्रभाव है।

जकारिया व अन्य (2010) ने विद्यार्थियों द्वारा वेब 2.0 तकनीकी के उपयोग पर अध्ययन किया और निष्कर्ष प्राप्त किया कि विद्यार्थी इन उपकरणों का उपयोग शिक्षा से सम्बन्धित सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए करते हैं।

अध्ययन की शोध विधि

प्रस्तुत शोधकार्य सर्वेक्षण विधि के विवरणात्मक अनुसन्धान की प्रश्नावली सर्वेक्षण विधि पर आधारित है।

न्यादर्श

प्रस्तुत अध्ययन में स्तरीकृत यादृच्छिकी न्यादर्शन विधि का उपयोग न्यादर्श के चयन के लिए किया गया है। प्रस्तुत शोध में कानपुर नगर के उच्चतर माध्यमिक स्तर के यू0पी0 बोर्ड के कुल 900 छात्र–छात्राओं को लिया गया है। प्रत्येक श्रेणी (गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय) से 6 विद्यालयों, अर्थात् कुल 18 विद्यालयों का चयन किया गया है। प्रत्येक श्रेणी के कुल 6 विद्यालयों में से 50 छात्र व 50 छात्राएं विज्ञान वर्ग की 50 छात्र व 50 छात्राएं वाणिज्य वर्ग की तथा 50 छात्र व 50 छात्राएं कला वर्ग की चयनित की गई है।

उपकरण

(1) स्वनिर्मित प्रश्नावली

(2) शैक्षिक उपलब्धि के अन्तर्गत विद्यार्थियों के कक्षा 11 के प्राप्तांक

प्रदत्तों का विश्लेषण, परिणाम एवं व्याख्या

गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय विद्यालयों में अध्यनरत विद्यार्थियों से एकत्र किए गए आंकड़ों के आधार पर विश्लेषण किया गया है तथा शोध की परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया है तथा प्राप्त परिणामों को निम्न सारणियों में दर्शाया गया है।

(1) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता हेतु टी–परीक्षण।

सारणी सं0– 1

टी–परीक्षण के परिणामों का सारांश

प्रतिदर्श	संख्या N	मध्यमान M	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी–अनुपात t	सार्थकता स्तर
ICT का उपयोग न करने वाले विद्यार्थी	453	273.23	67.38	22.42	0.01
ICT का उपयोग करने वाले विद्यार्थी	447	359.50	45.86		

सारणी सं0–1 से स्पष्ट है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 359.50 तथा सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 273.23 प्राप्त हुआ। मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता ज्ञात करने हेतु t - परीक्षण का प्रयोग किया गया सारणी नं0 1 से यह स्पष्ट है कि t का मान 22. 42 प्राप्त हुआ जो 0.01 सार्थकता स्तर पर सार्थक है अतः उपरोक्त सारणी से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले व उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है।

अतः सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अधिक पायी गयी है। इस प्रकार शून्य परिकल्पना–(1) निरस्त की जाती है।

(2) गैर अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन

गैर अनुदानित विद्यालयों के सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता हेतु टी–परीक्षण।

सारणी सं0 – 2

टी–परीक्षण के परिणामों का सारांश

प्रतिदर्श	संख्या N	मध्यमान M	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी–अनुपात t	सार्थकता स्तर
ICT का उपयोग न करने वाले गैर अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थी	117	279.59	72.68	12.49	0.01
ICT का उपयोग करने वाले गैर अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थी	183	364.31	44.76		

सारणी सं–2 से यह स्पष्ट है कि गैर अनुदानित विद्यालयों के, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 364.31 तथा सूचना एवं संचार

प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 279.59 प्राप्त हुआ। मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता ज्ञात करने हेतु t-परीक्षण का प्रयोग किया गया। सारणी सं0 2 से यह स्पष्ट है कि t का मान 12.49 प्राप्त हुआ जो 0.01 सार्थकता स्तर पर सार्थक है अतः उपरोक्त सारणी से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि गैर अनुदानित विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है।

अतः गैर अनुदानित विद्यालयों के सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अधिक पायी गयी है। इस प्रकार शून्य परिकल्पना–(2) निरस्त की जाती है।

(3) अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन

अनुदानित विद्यालयों के सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता हेतु टी–परीक्षण।

सारणी सं0– 3

टी–परीक्षण के परिणामों का सारांश

प्रतिदर्श	संख्या N	मध्यमान M	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी–अनुपात t	सार्थकता स्तर
ICT का उपयोग न करने वाले अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थी	166	267.96	64.29	13.48	0.01
ICT का उपयोग करने वाले अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थी	134	353.99	40.48		

सारणी–3 से यह स्पष्ट है कि अनुदानित विद्यालयों के, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 353.99 तथा ICT का उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 267.96 प्राप्त हुआ। मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता ज्ञात करने हेतु t - परीक्षण का प्रयोग किया गया। सारणी सं0 3 से यह स्पष्ट है कि t का मान 13.48 प्राप्त हुआ जो 0.01 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। अतः उपरोक्त सारणी से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अनुदानित विद्यालयों के ICT का उपयोग करने वाले एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है।

अतः अनुदानित विद्यालयों में ICT का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अधिक पायी गयी। इस प्रकार शोध की शून्य परिकल्पना–(3) निरस्त की जाती है।

(4) शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन

शासकीय विद्यालयों के सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता हेतु टी–परीक्षण।

सारणी सं0– 4

टी–परीक्षण के परिणामों का सारांश

प्रतिदर्श	संख्या N	मध्यमान M	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी–अनुपात t	सार्थकता स्तर
ICT का उपयोग न करने वाले शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थी	170	273.98	66.53	11.95	0.01
ICT का उपयोग करने वाले शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थी	130	358.40	51.85		

सारणी सं0–4 से यह स्पष्ट है कि शासकीय विद्यालयों के, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 358.40 तथा सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 273.98 प्राप्त हुआ। मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता ज्ञात करने हेतु t - परीक्षण का प्रयोग किया गया। सारणी सं0–4 से यह स्पष्ट होता है कि t का मान 11.95 प्राप्त हुआ जो 0.01 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। अतः उपरोक्त सारणी से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि शासकीय विद्यालयों के सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले एवं उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है।

अतः शासकीय विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अधिक पायी गयी है। इस प्रकार शोध की शून्य परिकल्पना–(4) निरस्त की जाती है।

(5) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा विद्यालय के प्रकारों (गैर अनुदानित, अनुदानित, शासकीय) के प्रभाव का अध्ययन

परतन्त्र चर शैक्षिक उपलब्धि पर स्वतन्त्र चरों, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के उपयोग एवं विद्यालय के प्रकारों के प्रभाव का अध्ययन करने हेतु द्वि–मार्गीय प्रसरण विश्लेषण (Two way ANOVA)।

सारणी सं0– 5

द्वि–मार्गीय प्रसरण विश्लेषण के परिणामों का सारांश

स्रोत	मुक्तांश df	वर्ग योग M	माध्य वर्ग योग M.S.	F–अनुपात F	सार्थकता स्तर
कारक A (ICT का उपयोग)	1	1585163.180	1585163.180	476.710	0.01
कारक B (विद्यालय के प्रकार)	2	106528.069	53264.034	16.010	0.01
अर्न्तक्रिया	2	108.385	54.192	0.016	असार्थक
त्रुटि	894	2972733.507	3325.205		
कुल	**899**	**4665186.556**			

सारणी सं0 5 के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कारक A (ICT का उपयोग) के लिए $F(1,894) = 476.710$ है अतः यह अनुपात 0.01 स्तर पर सार्थक है। इसलिए कहा जा सकता है कि ICT

उपयोग करने वाले व उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

कारक B (विद्यालय के प्रकार) के लिए F (2,894) = 16.010 है जो 0.01 स्तर पर सार्थक है अतः कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रकार (गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय) के विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

अर्न्तक्रिया के लिए F(2,894) = 0.016 है जो दोनों में किसी भी स्तर (0.01 या 0.05) पर सार्थक नहीं है अतः कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के लिए ICT के उपयोग एवं विद्यालय के प्रकार सार्थक अर्न्तक्रिया नहीं कर रहे हैं अर्थात् जो विद्यार्थी सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का अधिक उपयोग करते हैं उनकी शैक्षिक उपलब्धि ज्यादा पायी गयी है जबकि वो किसी भी प्रकार (गैर अनुदानित, अनुदानित, शासकीय) के विद्यालय में पढ़ रहे हो।

चूँकि विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के उपयोग का सार्थक प्रभाव है परन्तु ICT के उपयोग एवं विद्यालय के प्रकार, सार्थक अर्न्तक्रिया नहीं कर रहे हैं अतः शून्य परिकल्पना–(5) आंशिक रूप से स्वीकार की जाती है।

(6) छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले छात्रों एवं उपयोग न करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता हेतु टी–परीक्षण।

सारणी सं0– 6

टी–परीक्षण के परिणामों का सारांश

प्रतिदर्श	संख्या N	मध्यमान M	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी– अनुपात t	सार्थकता स्तर
ICT का उपयोग न करने वाले छात्र	246	269.50	71.68	14.98	0.01
ICT का उपयोग करने वाले छात्र	204	356.88	46.53		

सारणी सं0–6 से यह स्पष्ट है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 356.88 तथा ICT का उपयोग न करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 269.50 प्राप्त हुआ। मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता ज्ञात करने हेतु t परीक्षण का प्रयोग किया गया। सारणी सं0–6 से यह स्पष्ट होता है कि t का मान 14.98 प्राप्त हुआ जो 0.01 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। अतः उपरोक्त सारणी से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है ICT का उपयोग करने वाले छात्रों एवं उपयोग न करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है।

अतः सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का उपयोग करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि उपयोग न करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि से अधिक पायी गयी। इस प्रकार शोध की शून्य परिकल्पना–(6) निरस्त की जाती है।

(7) छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रभाव का अध्ययन

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाली छात्राओं एवं उपयोग न करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता हेतु टी–परीक्षण।

सारणी सं0–7

टी–परीक्षण के परिणामों का सारांश

प्रतिदर्श	संख्या N	मध्यमान M	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी–अनुपात t	सार्थकता स्तर
ICT का उपयोग न करने वाली छात्राएं	207	239.14	103.8	16.64	0.01
ICT का उपयोग करने वाली छात्राएं	243	361.69	45.27		

सारणी सं0–7 से यह स्पष्ट है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 361.69 तथा ICT का उपयोग न करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान 239.14 प्राप्त हुआ। मध्यमानों में अन्तर की सार्थकता ज्ञात करने हेतु t - परीक्षण का प्रयोग किया गया। सारणी सं0–7 से यह स्पष्ट होता है कि t का मान 16.64 प्राप्त हुआ जो 0. 01 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। अतः उपरोक्त सारणी से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करने वाली छात्राओं एवं उपयोग न करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है।

अतः ICT का उपयोग करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि उपयोग न करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि से अधिक पायी गयी है। इस प्रकार शोध की शून्य परिकल्पना –(7) निरस्त की जाती है।

(8) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग एवं लिंग के प्रभाव का अध्ययन

परतन्त्र चर शैक्षिक उपलब्धि पर स्वतन्त्र चरों, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के उपयोग एवं लिंग के प्रभाव का अध्ययन करने हेतु द्वि–मार्गीय प्रसरण विश्लेषण (Two-Way ANOVA)।

सारणी सं0–8

द्वि–मार्गीय प्रसरण विश्लेषण के परिणामों का सारांश

स्रोत	मुक्तांश df	वर्ग योग SS	माध्य वर्ग योग M.S.	F–अनुपात F	सार्थकता स्तर
कारक A (ICT का उपयोग)	1	2460534.258	2460534.258	499.38	0.01
कारक B (लिंग)	1	36447.450	36447.450	7.39	0.01
अन्तर्क्रिया	1	69044.080	69044.080	14.01	0.01
त्रुटि	896	4414728.310	4927.152		
कुल	**899**	**6948511.316**			

सारणी सं0–8 के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कारक A (ICT का उपयोग) के लिए F (1,896) = 499.38 है अतः यह 0.01 स्तर पर सार्थक है। इसलिए कहा जा सकता है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) उपयोग करने वाले व ICT का उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

कारक B (लिंग) के लिए F (1,896) = 7.39 है जो 0.01 स्तर पर सार्थक है अतः कहा जा सकता है कि छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमानों में 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

अर्न्तक्रिया के लिए F (1,896) = 14.01 है जो 0.01 स्तर पर सार्थक है। अतः कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के लिए ICT के उपयोग एवं लिंग सार्थक अर्न्तक्रिया कर रहे हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के साथ लिंगात्मक भिन्नता का भी सार्थक प्रभाव पाया गया है। अतः शोध की शून्य परिकल्पना–(8) निरस्त की जाती है।

निष्कर्ष एवं व्याख्या

अध्ययन से प्राप्त परिणामों के आधार पर निम्न निष्कर्ष प्राप्त किए गए :–

(1) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग का सार्थक प्रभाव पाया गया। ICT का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों से अधिक पायी गयी।

(2) गैर अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर ICT के उपयोग का सार्थक प्रभाव पाया गया इन विद्यालयों में ICT का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों से अधिक पायी गयी।

(3) अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर ICT के उपयोग का सार्थक प्रभाव पाया गया। ICT का उपयोग करने वाले अनुदानित विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों से अधिक पायी गयी।

(4) शासकीय विद्यालयों के विद्यालयों की शैक्षिक उपलब्धि पर ICT के उपयोग का सार्थक प्रभाव पाया गया। ICT का उपयोग करने वाले शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले विद्यार्थियों से अधिक पायी गयी।

(5) गैर अनुदानित, अनुदानित एवं शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि में सार्थक अन्तर पाया गया।

विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के लिए ICT के उपयोग एवं विद्यालय के प्रकार में सार्थक अर्न्तक्रिया नहीं पायी गयी अर्थात् सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का अधिक उपयोग करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक पायी गयी जबकि वो किसी भी प्रकार के विद्यालय के हों।

(6) छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर ICT के उपयोग का सार्थक प्रभाव पाया गया। ICT का उपयोग करने वाले छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न रने वाले छात्रों से अधिक पायी गयी।

(7) छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि पर ICT के उपयोग का सार्थक प्रभाव पाया गया। ICT का उपयोग करने वाली छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि, उपयोग न करने वाले छात्राओं से अधिक पायी गयी।

(8) छात्रों एवं छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि में सार्थक अन्तर पाया गया।

विद्यार्थियों के शैक्षिक उपलब्धि के लिए ICT के उपयोग तथा लिंग में सार्थक अन्तर्क्रिया पायी गयी अर्थात् विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा लिंगात्मक भिन्नता का सार्थक प्रभाव पाया गया।

भावी अध्ययन के लिए सुझाव

(1) इस प्रकार का अध्ययन अन्य कक्षाओं, IX, X व स्नातक के लिए किया जा सकता है।

(2) इस अध्ययन को यू0पी0 बोर्ड के अतिरिक्त सी0बी0एस0ई0 तथा आई0सी0एस0ई0 बोर्ड के विद्यालयों में भी किया जा सकता है।

(3) ICT के उपयोग का तुलनात्मक अध्ययन स्ववित्त पोषित एवं वित्तपोषित महाविद्यालयों में किया जा सकता है।

(4) ICT के उपयोग का समीक्षात्मक अध्ययन शिक्षक–प्रशिक्षण महाविद्यालयों में किया जा सकता है।

(5) विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के उपयोग के प्रति अभ्यर्थियों की अभिवृत्ति का अध्ययन किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(BIBLIOGRAPHY)

"AIEEE". HRD Ministry Retrieved 15 July 2012

Asian Development Bank (ADB), (2012). ICT in Education in Central and West Asia. Manila : ADB.

Buch, M.B. (Ed.), (1997). "Fifth Survey of Educational Research", (1988-1992), Vol. 1 and 2 N.C.E.R.T., New Delhi.

Buch, M.B. (Ed.), (2007). "Sixth Survey of Educational Research" (1993-2000), Vol.1 and 2 N.C.E.R.T., New Delhi.

Indian Educational Review, (2007). NCERT New Delhi.

India (2012). National policy on information and communication technology (ICT) in school education. New Delhi:

Department of School Education and Literacy Ministry of Human Resource Development, Government of India.

Jeyamani, P. (1991). Effectiveness of Simulation model of teaching through Computer Assisted Instruction. *M.Phil. Edu. Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for women, Coimbatore*.

Kitchen, S. et al. (2007). Harnessing Technology & Schools Survey 2007. Becta. [http://partners.becta.org.uk/index.php?section= rh & cutcode=rerp02 & rid = 14110]

Ministry of Human Resource Development (MHRD). "Rashtriya Madhyamic Shiksha Abhiyan" National Informatics Centre. Retrieved 2 February 2014.

Nasir, M.W., Munir, E.U., Shad, S.A. (2011). Usage and Impact of ICT in Education Sector; A study of Pakistan. *Australian Journal of Basic and Applied Sciences*, 5(12): 578-583, 2011.

Oxford English Dictionary (2002). Oxford University Press, New Delhi.

SMEETS (Ed.) (2005). Does ICT contribute to powerful learning environments in primary education? *Computers and Education,* 44 (3). 343-355.

Underwood, J. et al. (2007). Impact 2007 : personalising learning with technology. Becta.

UNESCO BULLETIN, (1990). *Developing of Education Technology in Japan* Vol.6

UNESCO (1996). Learning : The Treasure Within. Report of International Commission on Education in the Twenty-first Century, UNESCO-Paris.

Zakaria, M.H., Watson, J. & Edwards, S.L. (2010). Use of Web 2.0 technology by Malaysian students. *Multicultural Education & Technology* Journal 4(1): 17-29.

आयुर्वेदः संस्कृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. सविता भट्ट*

आयुर्वेद का मानव जीवन में अत्यन्त महत्त्व है। आयुर्वेद के रहस्यबोधन के लिए संस्कृत का ज्ञान अत्यावश्यक है। आयुर्वेद के तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टांग हृदय माने गए हैं। इन्हें वृहद् त्रयी कहा गया है। लघुत्रयी में माधव निदान भावप्रकाश और शार्ङ्गधर संहिता आते हैं।

"परम्परा के अनुसार आयुर्वेद एक उपवेद है तथा धर्म और दर्शन से इसका अभिन्न सम्बन्ध है। सुश्रुत आदि आयुर्वेद ग्रन्थों के अनुसार यह अथर्ववेद का उपवेद है। सुश्रुत के मत से – जिसमें या जिसके द्वारा आयु प्राप्त हो, आयु जानी जाए उसे आयुर्वेद कहते हैं।

चरक में लिखा है– "यदि कोई पूछने वाला प्रश्न करे कि ऋक्, साम, यजु, अथर्व इन चार वेदों में से किस वेद का अवलम्बन लेकर आयुर्वेद के विद्वान उपदेश करते हैं तो उनसे चिकित्सक चारों से अथर्ववेद के प्रति ही भक्ति प्रकट करेगा।"[1]

हिताहितं सुखं दुःख मायुस्तस्य हिताहितम्
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते

(चरक 1/41)

अर्थात् – हितकर, अहित कर, सुखकर, दुःखकर (करके) आयु चार प्रकार की होती है। उस आयु के लिए हितकर, अहितकर, (सुखकर, दुःखकर) क्या होता है। आयुर्मान कितना होता है– उसका विवरण जिसमें है वह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुरस्मिन् विद्यते इत्यायुर्वेद। (सु0स0 1/51)

अर्थात इसमें प्रतिपाद्य विषय के रूप में आयु वर्णित है। इसलिए यह आयुर्वेद है।

आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति आयुर्वेदः। (वही 1–51)

इससे आयु का ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए यह आयुर्वेद है।

वेदयति इति वेदः आयुर्वेदयति इति आयुर्वेदः। (चरक सूत्र 30–23)

अनेन वाऽऽयुर्विन्दतित्यायुर्वेदः। (सु0स0 1–23)

इससे मनुष्य दीर्घ और स्वस्थ जीवन प्राप्त करता है। इसलिये यह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वा इत्यायुर्वेद। (सु0स0 1/15)

अर्थात् इससे आयुर्वेद का विचार होता है इसलिए यह आयुर्वेद है। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति का आर्युमान भिन्न होता है। आयुर्वेद में इसको जानने के साधन बतलाए गए हैं।[2]

आयुर्वेद अनादि है, अनन्त है– यह शास्त्रों में वर्णित है।

चरक संहिता में आयु के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया–

---

[1] आधार हिन्दू धर्म कोष– डा0 राजबली पाण्डेय पृष्ठ –85

[2] वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम् – डा0 परशुराम लक्ष्मण

* डी0लिट्0, एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून

शरीरन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायेरायुरूच्यते[3]

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, सत्व (भव) और आत्मा के संयोग को आयु कहते है। धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध ये आयु के पर्यायवाची शब्द माने गए हैं। हमारे भौतिक शरीर में जब तक शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा का संयोग रहता है तब तक वह आयुश्मान कहलात है। प्राणी जन्म के बाद दिनों दिन मृत्यु की ओर अग्रसर होता है।

आचार्य सुश्रुत की दृष्टि में–

पञ्भूत शरीरि समवायः पुरुषः उच्यते

वे शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोग इस लक्षण को चिकित्स्य पुरुश का लक्षण मानते हैं।

तस्यायुशः पुण्यतमो वेदो वेदविदां भतः

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोंरूभयोर्हितम्[4]

उस आयु का ज्ञान कराने वाला आयुर्वेद पुण्यतम है, अर्थात् उससे बढ़कर और कोई पुण्य कार्य नही है– ऐसा वेद विदों का मत है और यह मनुष्यों के लिए दोनों लोको में हितकारक है।

अतः स्पष्ट है आयुर्वेद आयु का ज्ञान कराने वाला वेद है।

आयुशों वेदः आयुर्वेदः

जिस शास्त्र से आयु सम्बन्धी हितकर बातों का ज्ञान हो, उसे आयुर्वेद कहा जाता है।

मनुष्यों का जीवन एक सा नहीं है। क्योंकि वे पूर्वकृत कर्मों का फल भोग रहे हैं। कोई सुखी है तो कोई दुःखी, संयमित जीवन बिताने वाले हितकर जिन्दगी जी रहे हैं तो असंयमित जीवन बिताने वाले दुःख को झेल रहे हैं। अतः हितायु, अहितायु, सुखायु और दुःखायु के भेद से आयु चार प्रकार का कहा गया है।

(1) हितायु का लक्षण– सर्वजन हितैषी, निर्लोभ, शान्त विवेकी, सतत जागरूक, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का संतुलन ठीक करने वाला, पूज्य पूजक, वृद्धजन सेवी, मनोविकार रहित, सहिष्णु स्मृतिमान और बुद्धिमान व्यक्ति हितायु कहलाता है।[5]

(2) अहितायु का लक्षण– अपकारक, तस्कर, उद्धृत, अधार्मिक, निर्धन, अज्ञानी, मनोविकारयुक्त, वासना में लिप्त, असहिष्णु, विवेकहीन, स्मृतिभ्रष्ट, द्वेष रखने वाला, क्रोधी, आलसी और कर्त्तव्या–कर्त्तव्य ज्ञान शून्य मनुष्य अहितायु कहलाता है।

(3) सुखायु का लक्षण– निरोगी, युवावस्था सम्पन्न, बल–वीर्य से सम्पन्न, उच्च मनोबल वाला, धन, जन से सम्पन्न, जीवनोपयोगी साधनों से सम्पन्न, सन्तुष्ट और स्वतन्त्र व्यक्ति सुखायु होता है।

(4) दुःखायु– रोगी, वृद्ध, असमर्थ, निर्बल, हीन मनोबल, अन्ध, बधिर, परतन्त्र और साधनहीन व्यक्ति दुःखायु होता है।

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षण मातुरस्य विकार प्रशमनं च[6]

---

[3] चरक संहिता 1–42

[4] चरक संहिता – 1/43

[5] चरक सूत्र – 30–24

[6] चरक संहिता – 30–26

अर्थात् स्वरूप व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना– आयुर्वेद के ये दो प्रयोजन है।

मनुष्य दुःख से निवृत्त होने का उपाय ढूंढ़ता है और वह उपाय है आयुर्वेद। आयुर्वेद शाश्वत है, नित्य है, आयुर्वेद उभय लोक हितकर है तथा उसके आध्यात्म विद्या पूर्ण व्यवहार करने से तथा अन्यों से कराने से परम धाम की प्राप्ती होती है।

अन्यानि शास्त्राणि विनोद मात्रं प्राप्तेशु वा तेशु न तैश्च किञ्चित्
चिकित्सितज्यौतिशमन्त्रवादाः पदे पदे प्रत्ययभावहवन्ति (कल्पतरु)

अर्थात् इतर शास्त्र केलव मनोविनोद के लिए होते हैं। अतः उनके प्राप्त होने में या न होने में कोई विशेष अन्तर नहीं होता, परन्तु वैद्यक शास्त्र ज्योतिष शास्त्र तथा मन्त्र शास्त्र (प्राप्त होने पर वे अपने अस्तित्व का) पग–पग पर प्रत्यय दिया करते हैं। स्वयं चरक कहते है–

धर्मार्थे नार्थकामार्थमायु र्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्म परैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्।।

अर्थात् धर्मनिष्ठ मनीषियों ने आयुर्वेद का प्रकाशन धर्म करने की दृष्टि से किया है, न कि काम या धन प्राप्त करने की दृष्टि से।

सुश्रुत संहिता में आयुर्वेदाध्ययन के अधिकारी की भी चर्चा की गई है–

बाह्मणस्त्रयाणां वर्णामुपनयनं कर्तुमर्हति
राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति
शूद्रमपि कुल गुण सम्पन्नं
मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।

(सु0स0 2–5)

अर्थात् ब्राह्मण तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) क्षत्रिय दो वर्णों (क्षत्रिया और वैश्य) तथा वैश्य केवल वैश्य का उपनयन संस्कार (शिष्य चयन) करा सकता है। कुछ आचार्यों की सम्मति है कि यदि शूद्र, कुल सम्पन्न एवं गुण सम्पन्न हो तो उसे उपनयन संस्कार और मन्त्र भाग के बिना भी आयुर्वेद का अध्यापन कराया जा सकता है।

प्रस्तुत प्रसंग में चातुर्वर्ण्य का पालन कड़ाई से होता था फिर भी प्राचीन ऋशियों ने शूद्र को भी आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार देकर अपनी उदारता का परिचय दिया। इस प्रकार का भाव केवल सुश्रुत में मिलता है, चरक में नहीं।

द्विज गुरुदरिद्रमित्रव्रजितोपनतसाध्वनाथाभ्युपगतानां
चात्मबान्धवानामिव स्वभैशजैः
प्रतिकर्त्तव्यम् एवं साधु भवति
व्याध शाकुनिकपतितपाप कारिणां च न
प्रतिकर्त्तव्यम् एवं विद्या प्रकाशते,
मित्रयशोधर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति

(सु0स0 2–8)

अर्थात् द्विज, गुरु, दरिद्र, मित्र, प्रव्रजित (तपस्वीजन) उपनत, सत्पुरुष अनाथ तथा अभ्युपगतः (दूरादागताः) इनकी अपने बान्धवों की तरह अपनी औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसा करना शुभप्रद होता है किन्तु व्याध, शाकुनिक, पतित तथा पापकारी इनकी चिकित्सा नहीं करना चाहिए। उक्त नियमों का पालन करने से विद्या प्रकाश में आती है और मित्र यश, धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुख साधनम्
आयुर्वेदोपदेशेशु विधेयः परमादरः[7]

अर्थात् धर्म, अर्थ, सुख नामक इन तीन पुरुषार्थों का साधन (प्राप्ति का उपाय) आयु है। अतः आयु की कामना करने वाले पुरुष को आयुर्वेद शास्त्रों में निर्दिष्ट उपदेशों में परम आदर करना चाहिए– आयुष सम्बन्धी वेदः आयुर्वेदः

आयुशः पालकः वेदमुपवेदमथर्वणः[8]

अर्थात् अथर्ववेद का ही उपवेद यह आयुर्वेद है, जो आयु की रक्षा के उपदेशों का उपदेष्टा है।

आयुर्वेद के आठ अंग माने गए हैं–

1. काय चिकित्सा
2. बालतन्त्र (कौमारभृत्य)
3. ग्रह चिकित्सा (भूत विद्या)
4. उर्ध्वांगाचिकित्सा (शालाक्यतन्त्र)
5. शल्य चिकित्सा (शल्यतन्त्र)
6. दंष्ट्राविश चिकित्सा (अगदतन्त्र)
7. जरा चिकित्सा (रसायन तन्त्र)
8. वृष चिकित्सा (बाजीकरण तन्त्र)

हमारे प्राचीन जगदुपकारी ऋषियों ने संसार के उपकार के लिए उत्तमोत्तम आयुर्वेद के ग्रन्थ निर्मित कर डाले और उसमें कोई विषय नहीं छोड़ा। आयुर्वेद में किसी प्रकार की चिकित्सा का अभाव नहीं है। प्राचीन काल से मनुष्य विदेशी चिकित्सा का आश्रय कभी नहीं लेते थे, सदैव आयुर्वेद के द्वारा है अपने रोग का शमन कर लेते थे। बड़े से बड़े जटिल रोगों का निवारण भी आयुर्वेद के द्वारा सम्भव है। परीक्षित औषधियों से उनके भंडार भरे रहते थे। आयुर्वेद चिकित्सा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा जिस मनुष्य ने एक बार रोग से मुक्ति पाई, फिर शीघ्र ही वह मनुष्य रोग की फांसी में नहीं फँसता था। लेकिन यह तभी सम्भव था जब कि वैद्य पूर्ण योग्य हो। हमारे शास्त्रों में योग्य वैद्य के निम्नलिखित लक्षण पाए जाते हैं–

(1) रक्षोहा– वैद्य की पहली विशेषता यह होनी चाहिए कि वह राक्षसों अर्थात् रोग कृमियों का नाशक हो–

यत्रौशधीः समग्मत राजानः समितावि‍व
विप्रः स उच्यते भिषग रक्षोहाऽमीवचातनः[9]

(2) अमीवचातन – रोगों को नष्ट करने की क्षमता हो।

(3) विप्रः अपने विषय का विशेषज्ञ हो, पारंगत हो।

(4) समस्त औषधियों का ज्ञाता तथा संग्रह करने में निपुण वैद्य ही श्रेष्ठ कहा गया है।

(5) वैद्य को श्रेष्ठ तभी कहा जाता है जबकि उसे चिकित्सा का कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न करे और दीर्घ काल के लिए रोगी के कष्ट का निवारण करे।

---

[7] अष्टांगहृदयम (1–2)
[8] अ0सं0सू0 (1/10)
[9] ऋग्वेद 10–97–6

यद वा देव भिषज्यथः[10]

वरूणों भिषजयन्[11]

(6) श्रेष्ठ वैद्य वही माना जा सकता है जो रोग के मूल कारण तक पहुँच जाए और अच्छी प्रकार समझ लेने के बाद रोग के कारणों को नष्ट करने हेतु प्रयास करें।

यदामयति निष्कृथ[12]

(7) औषधियों के द्वारा शरीर के सभी दोशों को बाहर निकालना भी श्रेष्ठ वैद्य का अपेक्षित गुण है–

औषधिः प्राचुच्यवुः यत् किं च तत्वों रपः[13]

(8) शरीर को निरोग बनाना, दीर्घायु प्रदान और शल्य चिकित्सा के द्वारा टूटी हड्डियों को जोड़ने की दक्षता भी श्रेष्ठ वैद्य का लक्षण माना गया है।[16]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद भी वैद्य के लक्षणों की मीमांसा कर रहा है–

वैद्य का एक गुण यह भी होना चाहिए कि वह रोगों के विस्तार को रोककर उसकी सीमा घटाने का प्रयत्न करें।

यथा सो अस्य परिधिश्पताति। (अथर्व0 5–29–2)

वैद्य ऐसी–ऐसी औषधियों का निर्माण करें जिससे मनुष्य और पशु आदि निरोग हो जाए। (अ0 5–29–1)

सहस्रो औशधियों का ज्ञाता वैद्य निरन्तर अपना अभ्यास बढ़ाता रहे और चिकित्सा कार्य करता रहे पवित्र जीवन स्वयं भी बिताये और दूसरों को भी पवित्र और संयमी शरीर बनाने की सलाह दे।[17] उसके द्वारा निर्मित औषधियाँ ऐसी हों जिससे मानव शरीर बुढ़ापे के प्रभाव से रहित होकर 100 वर्ष तक तेजस्वी जीवन व्यतीत करे।[18]

आयुर्वेद शास्त्र पर दृष्टिपात करें तो वहाँ भी उत्तम वैद्य के अनेकानेक गुण गिनाए गई हैं।

चरक के अनुसार–

श्रुते पर्यवदातत्वं, बहुशो दृष्टकर्मता
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं, वैद्येगुण चतुष्टयम्

चरक सूत्र – 9–6

अर्थात् शास्त्र का सर्वतोमुखी ज्ञान, अनेक बार उस कर्म का प्रत्यक्ष द्रष्टा होना, दक्षता (कुशलता) और पवित्रता ये चार गुण कुशल वैद्य में होने चाहिए।

यहाँ दृष्टकर्मता– इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत औषधि परिचय, निर्माण, रोगी को देखना, रोगों में विभिन्न प्रकार की नाड़ी की गतियों को पहचानना आदि। उक्त प्रकार के समस्त गुणों से समन्वित चिकित्सक ही चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है।

अष्टांग सूत्र में श्रेष्ठ वैद्य के लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहा गया–

दक्षस्तीर्थान्त शास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिभिषक। (अष्टांगसूत्र– 1–28)

अर्थात् दक्षता, गुरु से शास्त्र का ठीक–ठीक ज्ञान औषध प्रयोग आदि कर्मों को देखकर स्वयं ज्ञान करना तथा बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता।

---

[10] ऋग्वेद 8–9–9
[11] यजुर्वेद 19–80
[12] ऋग्वेद 10–97–9
[13] ऋग्वेद– 10, 97.10
[14] इमं में अगदं कृत – (ऋग्वेद– 10, 97, 2)
[15] प्र न आयूषि तारिशत् – साम0 – 184
[16] निष्कर्ता विहुतं पुनः – साम0 – 244
[17] यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिशकतमः (अथर्वः 2, 9, 5)
[18] ऊर्जा स्वधामजराम ..... भिषजस्ते अक्रन (अथर्व. 2–29–7)

चरक संहिता में एक स्थान पर कहा गया–

विद्या वितर्कों विज्ञानं स्मृतिस्तपरता क्रिया
यस्यैते शड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते

(चरक सं0 9–21)

अर्थात्, विद्या, वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता और क्रिया (चिकित्सा) ये छः गुण जिस वैद्य में होते हैं। यह किसी भी साध्य रोग की चिकित्सा में असफल नहीं होगा।

मनुष्य को योग्य वैद्य बनाने वाले गुण हैं–

विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः। (चरक सं0 9–22)

अर्थात् विद्या, मति, कर्मदृष्टि, अभ्यास, सिद्धि और आश्रय– इन छः गुणों में से प्रत्येक गुण मनुष्य को योग्य वैद्य बनाने के लिए पर्याप्त है।

1. विद्या – शास्त्रान्तरों का ज्ञान
2. मति – शास्त्रों का मनन, बुद्धि अथवा इच्छा
3. कर्मदृष्टि – चिकित्सा कर्म के प्रति एकाग्रता
4. अभ्यास– निरन्तर चिकित्सा कार्य करने का अभ्यास
5. सिद्धि – चिकित्सा में सफलता, मन्त्रसिद्धि, इष्टासिद्धि
6. आश्रय– अष्टांग चिकित्सा में से जिनमें भी कुशलता प्राप्त करने की इच्छा हो, उस विषय के विशेषज्ञ गुरुजनों के साथ रहना।

यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्य शब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः।।

(चरक सं0 – 9–23)

जिस वैद्य में उपयुक्त विद्या आदि सभी गुण विद्यमान होते हैं। वह वैद्य शब्द की योग्यता का निर्वाह करता हुआ प्राणिमात्र को सुख देने वाला होता है।

इसके विपरीत मूर्ख वैद्य से चिकित्सा कराना कितना घातक है यह सर्वविदित है। चरक संहिता के अनुसार–

वरमात्माहुतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता। (चरक सं0 9–15)

अर्थात् भले ही मानव अपने को अग्नि में डालकर जला डाले परन्तु मूर्ख चिकित्सक से चिकित्सा कराना अनुचित है। यद्यपि आग में अपने को डालना एक दुस्साहसपूर्ण कार्य है लेकिन शास्त्र इसको अच्छा मान रहा है, अपेक्षाकृत अपनी देह को मूर्ख वैद्य को सौंपने से। मूर्ख वैद्य की उपमा अन्धे से दी गई जैसे वह आँख न होने के कारण मार्ग में फिसलता और ठोकरे खाता हुआ और अन्तिम सीमा तक पहुँचने में भयभीत बना रहता है यही स्थिति चिकित्सा क्षेत्र में मूर्ख वैद्य की है। उसी प्रकार से वायु के सहारे चलने वाली नाव कभी किनारे लगेगी या नहीं, डूबेगी या पार उतरेगी– यह स्थिति अयोग्य चिकित्सक के हाथों में सौंपे गए रोगी की भी होती है।

अयोग्य वैद्य अपने सैंकडों रोगियों को शीघ्र मार डालता है।

इस प्रकार हम देखते हें कि योग्य वैद्य ही औषधियों का सही प्रयोग कर सकता है। चिकित्सक जिस द्रव्य से रोगी की व्याधि का हरण करता है, वह द्रव्य औषधि है–

वैद्यों व्याधिं हरेद्येन तद्द्रव्यं प्रोक्त मौषघम्। (अत्रि संहिता)

औषधि में विद्यमान ओष शब्द का अर्थ है– रस, वह जिसमें धारण होता है, वह औषधि है, ओष से आरोग्य का आधान होता है इसलिए औषधि ओशध है–

ओशों नाम रसः सोऽस्यां धीयते यत्तदोषधिः।
ओशादारोग्यमाधते तस्मादोशधिरोशधः।।

(काश्यप संहिता)

अमरकोष में भी इसको परिभाषित किया गया है–

ओशध्यों जातिमात्रेस्युरजातौ सर्वमौशधम्।।

महर्शि चरक ने चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायाश्चित्त, प्रशमन, प्रकृति स्थापन और हित ये भेषज के पयार्य माने है–

विचिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौशधम्
प्रायश्चितं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्

(चरक संहिता)

औषधियों का यदि ठीक से सेवन न किया जाए तो वह विष बनती है। वास्तव में वही चिकित्सा पद्धति श्रेष्ठ है जो रोगी को रोग मुक्त करती है या कर सकती है। आधुनिक शिक्षित लोग पाश्चात्य वैद्याक को वैज्ञानिक मानते हैं और आयुर्वेदादि अन्य वैद्यकों की अवैज्ञानिक कहते हैं। परन्तु पाश्चात्य वैद्यक से असंख्य रोगियों को आराम नहीं मिलता है और उनमें से अनेक रोगी आयुर्वेद के श्रेष्ठ वैद्यों द्वारा रोग निर्मुक्त कर दिए जाते हैं। यही आयुर्वेद की श्रेष्ठता है। अथर्ववेद में इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहा गया–

अयं में हस्तो भगवानयं में भगवत्तरः।
अथ में विश्वभेषजोऽयं शिवाभिदर्शनः।।

अर्थात् यह मेरा हाथ (जो मैं तुम्हारे ऊपर फेर रहा हूँ) भाग्यवान है। यह दूसरा हाथ उससे भी भाग्यवान है। पहिला विश्वभेषज है और दूसरा कल्याकारी है।

महर्षि चरक ने शक्ति वर्धक तत्वों को रसायन कहा है। चरक का कथन है कि ब्रह्मचर्य वत या संयम सर्वोत्तम रसायन है। यह धर्म, यश, दीर्घायु और दोनों लोकों में हितकारी रसायन है।

अष्टांग हृदय में सत्यभाषण, अक्रोध, आत्मचिन्तन, शान्तचित्तता और सदाचार को अपूर्व रसायन कहा गया। सुश्रुत की दृष्टि में जीवन, बल, वर्ण और ओज का मूल कारण आहार है। आहार की विषमता से अस्वास्थ्य और रोग होते है। सभी प्रकार के रोगों का निदान औषधियों द्वारा सम्भव है। वे मानव का अनेक प्रकार से उपकार करती है। ऋग्वेद में वर्णित औषधि सूक्त– औषधियों की महत्ता प्रदर्शित करता है। वहाँ कहा गया ये औषधियां जिसके शरीर में प्रवेश करती है वह निरोग हो जाता है। औशधियाँ मनुष्य और पशु सभी को निरोग बनाती है। औषधियां शरीर के अन्दर के रोगों को निकालती है और शरीर के सामर्थ्य को अक्षुण्ण रखती है।

अथर्ववेद तो औषधियों का भंडार है। इसके अनेक सूक्त औषधियों और आयुर्वेद से सम्बन्धित है। अनेक औषधियों के गुण धर्मों का विषद विवेचन भी किया गया है। एतरेय ब्राह्मण में वनस्पतियों को प्राण माना गया है। वनस्पतियां मनुष्य मात्र को आक्सीजन देती हैं। अतः मनुष्य मात्र की रक्षा के लिए वृक्षों और वनस्पतियों की रक्षा अनिवार्य है। औषधियों के रसों से अनेक दवाएँ निर्मित की जाती हैं। ये रस आयुवर्धक बताए गए हैं। अतः वनस्पतियों और आयुर्वेद का घनिष्ट सम्बन्ध है। औषधियों की प्राप्ति अनेक स्थलों से होती है। जैसे पर्वत, समतल भूमि, नदी, तालाब, समुद्र आदि। कुछ औषधियां प्राणिज है जो जीवों के सींगों आदि से उत्पन्न होती है। प्राकृतिक तत्व सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि, वायु स्वयं औषधि स्वरुप है इन्हीं के आधार पर सूर्य किरण चिकित्सा, जल चिकित्सा आदि की जाती है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आयुर्वेद जिसका सम्बन्ध मनुष्य की आयु से है– उसका वनस्पति जगत से सीधा सम्बन्ध है। वनस्पति के माध्यम से प्राप्त होने वाली औषधियों से श्रेष्ठ वैद्य अपने रोगी का उपचार करते हैं। यदि ये औषधीय वृक्ष न हो तो आयुर्वेद अधूरा सा प्रतीत होगा। वास्तव में ये औषधियां मानव का ज्यादा से ज्यादा उपकार करने में समर्थ है अतः आयुर्वेद को अपनाना ही आज के युग में श्रेयस्कर है।

संस्कृत नाटककारों का चित्रकला का शास्त्रीय ज्ञान

डॉ0 अनुपम कुमारी*

''संस्कृत नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
भाषासु मधुरा मुख्या दिव्यागीर्वाणभारती।।''

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का विश्वकोष है। इसमें भारतीय जनजवीन के सभी पक्षों का प्रतिबिम्ब उपलब्ध है। ऐसा बहुत ही कम देखा गया है, वरन् यह कहना चाहिये ऐसा दुर्लभ ही है कि कोई नाटककार स्वयं चित्रकार भी हो। साहित्य की सेवा करने वाले साहित्यकारों में से किसी का भी उल्लेख चित्रकार के रूप में प्राचीन तथा मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। नाटककारों अथवा कवियों ने शासकवर्ग को ही चित्रकर्म का ज्ञाता दिखाया है। राजसभाओं में नृत्य आदि के आचार्यों की ही भाँति चित्राचार्यों की भी नियुक्ति होती थी। चित्रकारों के अपने संघ होते हैं, जो किसी शासक अथवा श्रेष्ठी अथवा दानदाता के आमंत्रण पर राजभवनों, उपासना–स्थलों अथवा अन्य भवनों में चित्रकारी करते थे। भारतीय कलाग्रन्थों में मूर्तिकला तथा चित्रकला को वास्तु का ही अंग माना गया है। वस्तुतः संगीत, नृत्य आदि भी भवनों के सम्पूर्ण स्वरूप के ही अंग के समान थे। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में जहाँ शासकों, राजकुमारों अथवा राजकुमारियों को चित्रकला में निपुण दिखाया गया है, वहीं चित्राचार्यों तथा चित्रकारों का उल्लेख भी हुआ है। कहीं भी किसी कवि अथवा नाटककार को चित्ररचना में प्रवृत्त नहीं दिखाया गया है। फिर भी अनेक कवियों तथा नाटककारों (नाटक–लेखकों) को चित्रकला की अनेक बातों का ज्ञाता माना जा सकता है क्योंकि उनकी रचनाओं में इसे प्रमाणित करने वाले उल्लेख मिल जाते हैं। इन उल्लेखों के आधार पर कुछ नाटककारों में चित्र–रचना सम्बन्धी पर्याप्त अर्न्तदृष्टि झलकती है। कवियों, जिनमें नाटककार भी सम्मिलित हैं, को सभी प्रकार के शिल्पों के अवलोकन का परामर्श दिया गया है।[1]

''न स शब्दों, न तद्वाच्यं, न स न्यायो, न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगम् अहो, भारो महान कावे'।।''[1]

वर्णनों में ऐसे प्रसंग आने पर कोई विषय–विरोधी बात न लिख या कह दी जाय।

''इत्थं कला चतुःषष्टि विरोधः साधुनीयताम्।''[2]
क्षेमेन्द्र ने भी कवियों को शिल्पों का कौशल देखने का परामर्श दिया है।

''शिल्पानाम् कौशलं प्रेक्षा।''[3]

उक्त दृष्टि से संस्कृत नाटककारों के चित्रकला–ज्ञान के तीन पक्षों पर विचार किया जा रहा है –

1. रचना–सामग्री से सम्बन्धित
2. आकृति एवं संयोजन से सम्बन्धित
3. चित्र के सौन्दर्य (चित्र गुण–दोष) से सम्बन्धित

(आकृति रचना, चित्र संयोजन, रेखा–विधान, वर्ण–विधान, रचना–सामग्री आदि का तकनीकी एवं कला–शास्त्रीय दृष्टि से वर्णन, चित्र गुण–दोष आदि)

रचना–सामग्री से सम्बन्धित

* असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षक–शिक्षा विभाग, आई0आई0एम0टी0, रामघाट रोड, अलीगढ़

चित्रकला बाह्य सामग्री एवं उपकरणों पर आधारित कला है।[4] जार्ज शान्तायन ने सहज शरीरजात – Automatic or expression through the human organism एवं रूपायन – Shaping or expression through external materials में कहा है।

इसमें आधार के रूप में भित्ति फलक, पट आदि का तथा चित्रण के साधन के रूप में तूलिका एवं वर्तिका आदि का और चित्रण सामग्री के पदार्थ के रूप में रंगों का प्रयोग होता है। संस्कृत नाटककारों ने इनका वर्णन निम्नांकित रीति से किया है –

आधार – चित्र के भौतिक कलेवर में तीन प्रकार के पदार्थों का संयोग रहता है। प्रथम वस्तु वह भित्ति अथवा फलक है जिस पर चित्र रचना की जाती है। दूसरी वस्तु इस भित्ति पर लगाया जाने वाला अस्तर अथवा लेप्य है, जो इसके कोरेपन अथवा नग्नता को छिपाकर इसे चित्रण योग्य बनाता है। तीसरी वस्तु वे रंग आदि हैं जिनके इस अस्तर लगे हुए धरातल पर चित्रांकन किया जाता है। चित्रांकन के साधन के रूप में प्रधानतः तूलिका का प्रयोग किया जाता है। भूमि पर ही रंगोली, सांझी अथवा चौक आदि के रूप में प्राचीन काल से ही इस प्रकार की चित्र रचना होती रही है। ग्यारहवीं शती में सोमेश्वर भूपति ने मानसोल्लास में इनका उल्लेख किया है।[5]

भित्ति सामान्य रूप में चित्र के किसी भी धरातल को भित्ति कहा जाता रहा है। जैसा कि विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस से स्पष्ट है – ''सैवेयं मम् चित्र कर्मचरना भित्तिं विना वर्तते।''

चित्रफलक : प्रायः काष्ठ फलक, पत्थर अथवा शिला, अथवा हाथी दाँत की सपाट सतह पर चित्र बनाये जाते हैं। सामग्री की दृष्टि से इसे फलक, चित्रफलक, शिलाफलक, काष्ठफलक आदि कहा जाता है। मध्यकाल में चित्रित तालपत्रीय पोथियों की परम्परा आरम्भ हुई। भासकृत ''चारुदत्त'' नाटक में ''चित्रफलक'' का उल्लेख हुआ है –

''हज्जे! इदं चित्रफलकं शयनीये स्थापय।''[6]

वर्ण प्रकार : पादताडितकम् में भूमि पर पाँच रंगों के पुष्पों का उल्लेख हुआ है और नागानन्द नाटक में पाँच रंग के खनिजों का उल्लेख है। भरतमुनि ने 'नाटकशास्त्र' में पाँच रंगों का उल्लेख किया है – ''श्वेत, पीत, अरुण, कृष्ण और नील''।[7] इन रंगों के मिश्रण से बनने वाले मिश्रित वर्ण कहलाते हैं।

सुधारस एवं कूँची : कुछ नाटककारों ने तूलिका के स्थान पर कूँची शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर ने विद्वशालभंजिका में सुधारस एवं कूर्चक का उल्लेख किया है –

''त्रिभुवनभवन विच्छुरणाच्छ सुधारस धवलकूर्चकः।''[8]

वर्तिका करण्डक और वर्तिका समुद्गक : चित्र रचना की सामग्री को रखने के लिए पात्र अथवा डिब्बे का प्रयोग किया जाता था, नाटककारों ने उसका भी उल्लेख किया है। भासकृत ''चारुदत्त'' नाटक में 'वर्तिका–करण्डक' का उल्लेख हुआ है।

चित्रों में सुवर्ण के रंग का प्रयोग : यद्यपि भित्ति चित्रों में सामान्यतः खनिज रंगों का ही प्रयोग किया जाता है परन्तु राजभवनों, सामन्तों के आवासों तथा प्रसिद्ध पूजा गृहों आदि को भित्तियों पर रंगों के ऊपर सुवर्ण का प्रयोग किया जाता है। नाटककार भास ने 'बालचरित' में मथुरा के भवनों में अंकित चित्रों का वर्णन किया है।

''श्रीमानिमां कनक चित्रित हर्म्यमाला विस्तीर्ण

राजभवना पणगोपुर गट्टाम्।''[9]

पत्रच्छेद्य : पत्तों में छिद्र करके कपालों, भुजबलों तथा स्तनों पर छापने के लिए जो स्टेन्सिल बनाये जाते थे उन्हें पत्रच्छेद्य कहते थे, इनका प्रचलन प्रागैतिहासिक काल सेही रहा है। डा0 जगदीश गुप्त ने इस प्रकार अंकित चित्रों को 'क्षेपांकन' कहा है। संस्कृत साहित्य में इन्हें पत्र–रचना, पत्र–भंग, पत्र–लेखा आदि कहा गया है। शूद्रक ने मृच्छकटिक में इसे पत्रच्छेद्य कहा है।

अन्य आकृतियों : भित्तियों आदि पर देवी षष्ठी, कार्तिकेय, सूर्य तथा चन्द्र की आकृतियाँ भी अंकित की जाती थीं। इनका उल्लेख डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने कादम्बरी के सन्दर्भ में किया है। इनके कुछ उदाहरण संस्कृत नाटककारों में भी मिल जाते हैं।[10]

मयूर : भारतीय शिल्प में मयूर अति प्राचीन अभिप्रायों में से एक है। द्वारपक्षों तथा रथिकाओं में मयूरों की आलंकारिक आकृतियाँ प्राचीन काल से ही अंकित की जाती रही हैं। मयूरांकन के आरम्भिक उदाहरण सिन्धु घाटी के पात्रों में मिले हैं।[11]

शुंगकालीन भरहुत के एक फुल्ले पर पंख फैलाकर नृत्य करते मयूर के दोनों ओर दो मयूरी भी अंकित हैं।[12]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत नाटककारों में अपनी युग की कला से प्रेरणा लेते हुए चित्रकला में प्रयोग होने वाली विविध सामग्री यर्थाथ भित्ति, आधार, रंगों तूलिका एवं रचना विधि का, विभिन्न प्रकार की मानवीय, पशु–पक्षी, जगत एवं आलंकारिक आकृतियों का एकल अथवा सामूहिक संयोजनों का तथा चित्रों के सौन्दर्य एवं गुण–दोष आदि का यथा प्रसन्न समावेश अपनी रचनाओं में किया है। इससे एक ओर तत्कालीन चित्रकला के सम्बन्ध में जानकारी होती है तथा दूसरी ओर संस्कृत नाटककारों के चित्रकला–विषयक शास्त्रीय ज्ञान का भी परिचय मिलता है। यह ज्ञानविशद तो नहीं है किन्तु नाटकों में समावेश करने योग्य व्यवहारिक ज्ञान अवश्य था।

संदर्भ

1. भामाह, काव्यालंकार, 5/4, पटना, 1928
2. दण्डी, काव्यादर्श, 3/171, बनारस, 1948
3. क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरण, 1/2, बनारस, 1992
4. अग्रवाल, गिर्राज किशोर, ''कला समीक्षा'', अलीगढ़, 1970, पृ0 16
5. अग्रवाल, गिर्राज किशोर, ''कला निबन्ध'', अलीगढ़, 1989, पृ0 279
6. चारुदत्त, भास, भासनाटकचक्रं, पूना, 1951 ई0 तथा वाराणसी, 1986, अंक 4, पृ0 305
7. भरत, नाट्यशास्त्र, अ0 21/60–65, चित्रसूत्र, अ0 40/14–30
8. विद्वशाल भंजिका, अंक 3/8ए, पृ0 73
9. भासनाटक चक्रं, बालचरित, अंक–5/15
10. अग्रवाल, वासुदेवशरण, ''कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन'', वाराणसी, 1988, पृ0 84
11. स्टुअर्ट पिगाट, ''प्री–हिस्टोरिक इण्डिया'', पृ0 233
12. शुंगकाल, मयूराकृतियों से अलंकृत फुल्ला भरहुत''

योजना काल में भारत के ग्रामीण विकास कार्यक्रम

डा0 जी0 सी0 बेंजवाल* एवं डॉ0 सिराज अहमद**

सारांश

भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत की लगभग तीन चौथाई जनसंख्या गॉवों में रहती है। ग्रामीण भारत ही वास्तव में भारत की शक्ति एवं समृद्विका निर्धारण करता है। ग्रामीण क्षेत्र प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करते है। स्वतंत्रता के पश्चात् आजाद भारत में विभिन्न योजना कालों में भारत की ग्रामीण जनसंख्या के लिए सरकारों द्वारा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जाता रहा है, जिससे ग्रामीण जनसंख्या की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे तथा उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का निराकरण करके उनके जीवन मे अपेक्षित सुधार किया जा सके। परन्तु वर्तमान तक भी ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के बावजूद कुछ क्षेत्रों में अभी भी सुधार की काफी सम्भावना है। जिनका किया जाना परम आवश्यक है।

की वर्ड– ग्रामीण विकास, न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम, स्वजल, स्वरोजगार, मनरेगा

उद्देश्य

यह शोध इसलिए आवश्यक है कि भारत वर्ष की अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करती हैं, अतः भारत का विकास बिना इस जनसंख्या का विकास किये नहीं हो सकता। अतः समग्र विकास का सपना पूरा करने हेतु इस ग्रामीण जनसंख्या के बडे वर्ग को शिक्षित करने , निर्धनता उन्मूलन, उनके लिए रोजगार सृजन, उनकी कृषि की दशाओं का उत्थान तथा उनके सामाजिक, आर्थिक जीवन में सुधार हेतु न केवल उनके लिए विभिन्न योजनाओं का निर्माण करना बल्कि उनको फलीभूत ढंग से क्रियान्वन करने के लिए आवश्यक उठाये जाने वाले कदमों के विशय में प्रभावी ढंग से सोचना होगा। इस हेतु ही ग्रामीण विकास नियोजन पर विचार अत्यन्त आवश्यक है।

प्रस्तावनाः

19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों और 20वीं शताब्दी के प्रारंम्भ में राजनैतिक और सामाजिक चेतना भारत का अंग बन गयी है। विचारक, देशभक्त भारतीय और अंग्रेजों में उदार राजनैतिक धारा के लोग अपने–अपने दृष्टिकोण से भारत की स्वतंत्रता और स्वशासन से पूर्व स्वतंत्रता के पश्चात् ग्राम सुधार के कुछ विशिष्ट प्रयोग करने लगे थे जो इस चिन्तन को व्यावहारिक स्वरूप देने के प्रयास की ओर संकेत करते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था ग्राम्य प्रधान अर्थव्यवस्था है। अतः देश का भविष्य ग्रामीण समुदाय के विकास पर ही निर्भर करता है। ग्रामीण विकास प्राचीन काल से ही हमारे जीवन का अंग रहा है। हमारे मनीषियों ने इसे एक दर्शन और साधना के रूप में स्वीकार किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पूरी प्रशासकीय व्यवस्था ग्रामीण स्तर से उपर की तरफ जाती थी् चाहे वह कौटिल्य के समय का प्रजातंत्र हो या बाद के काल का राजतंत्र, सभी में ग्रामीण जीवन की मूलभूत सुविधाओं और सर्वांगींण विकास पर बल दिया गया है। महात्मा गाँधी के शब्दों में "भारत गावों में बसता है" यदि गावँ की कायापलट हो जाती है तो समूचे राष्ट्र का विकास हो सकेगा।

ग्रामीण विकास से तात्पर्य ऐसी नियोजन नीति से है जिसके द्वारा ग्रामीण समाज के कमजोर वर्गों के सामाजिक–आर्थिक स्तर को स्थानीय संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग द्वारा उपर उठाया जा सके एवं

* एसोसिएट प्रोफेसर (अर्थशास्त्र) राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय कर्णप्रयाग

** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजकीय महाविद्यालय चौखुटिया (अल्मोडा)

गावँ को खुशहाल बनाया जा सके। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत आर्थिक और सामाजिक दोनों पहलुओं का समावेश होता है। आर्थिक पहलुओं से तात्पर्य रोजगार उत्पादन, आय एवं व्यवसायिक जागृति से है। अतः ग्रामीण विकास राष्ट्रीय विकास का पर्यायवाची शब्द माना जा सकता है। पं0 जवाहर लाल नेहरू ने शुक्रचार्य की नीतिसार के आधार पर प्राचीन भारतीय ग्रामों में ग्रामीण विकास हेतु ग्राम सभाओं का विस्तृत वर्णन किया है।

ग्रामीण विकास ग्रामीण अर्थव्यवस्था में निहित है ताकि उन लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाया जा सके जो गरीब हैं। ग्रामीण विकास की लोकप्रियता कृषि पर आधारित है। इसलिए ग्रामीण समाज की संरचना को मजबूती प्रदान करना आवश्यक है। ग्रामीण विकास में यातायात वृद्धि से स्थानीय संसाधनों, कृषि, आदा–प्रदा एवं सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है। एक निर्धन एवं अल्पविकसित देश को जिनकी महत्वकांक्षा अपनी अर्थव्यवस्था का विकास एवं आर्थिक विकास की गति को अत्यधिक क्षीण साधनों के सहारे चालू रखने की होती है वहीं भारत में स्वतंत्रता से पूर्व शासकों नें ग्रामीण विकास की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्होंनें अपनें माल की बिक्री हेतु हमारे कुटीर उद्योगों को तहस–नहस कर दिया और अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु जोतों की परंम्परा को छिन्न–भिन्न कर दिया। ग्रामीण गरीबों की संख्या में निरंन्तर वृद्धि होती चली गयी, उन्हें रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से भी जूझना पड़ा। अल्पविकसित क्षेत्रों में भुखमरी और गरीबी की समस्या अब भी बनी हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी के कारण विभिन्न प्रकार की जटिल समस्याएं जन्म लेती हैं। गरीबी में मानव को एक छोटी वस्तु से बडी वस्तु के लिए जूझना पड़ता है। कम आमदनी एवं प्रति व्यक्ति पूँजी की कमी इस का संकेत है।

ग्रामीण भारत में निवास करने वाली सम्पूर्ण जनसंख्या का मुख्य कार्य कृषि कर्म है। अधिकांश शहरी आवश्यकताओं की पूर्ति गाँवों द्वारा ही की जाती है। प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में गाँव राष्ट्र के विकास एवं प्रगति में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करते है। भारतीय गाँवों से लगभग 550 प्रकार की व्यापारिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण लकड़िया प्राप्त होती है, जिनका उपयोग फर्नीचर, माचिस आदि बनाने में होता है। सम्पूर्ण देश में सभी प्रकार के खाद्यान्नों की आपूर्ति गाँव ही करते है। गाँवों में विभिन्न वस्तुओं जैसे लाख, तारपीन का तेल, चन्दन का तेल, एवं चन्दन की लकड़ी से बनी विभिन्न कलात्मक वस्तुएं, आदिवासी पेन्टिंग्स इत्यादि का निर्यात सरकारों द्वारा किया जाता है तथा करोड़ों रूपये की विदेशी मुद्रा का अर्जन किया जाता है। इसलिए विकसित गाँव ही विकसित भारत का आधार स्तम्भ बन सकते है विकास की एक निरन्तर प्रकिया ने गाँवो को एक नई परिभाषा दी हैं निःसन्देह इस विकास प्रक्रिया का उदगम बिन्दु भारतीय कृषि विकास के अंकुरण में समाहित है। किसान अब परम्परागत खाद्यान्नों के स्थान पर नकदी या व्यावसायिक फसलों के उत्पादन हेतु प्रवृत्त हुए है। इससे इनकी आमदनी के स्रोत बढ़े हैं। बागबानी, कृषि एवं पुश्पोत्पादन को बढ़ावा दिया जा रहा है। भूमि सुधार की प्रक्रिया जारी है। आधुनिक युग में तकनीकी क्षेत्र में हुए प्रगति के असर कृषि में भी दिखाई पड़ने लगा हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में आवास समस्या के प्रति सरकार सर्वप्रथम चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में उन्मुख हुई, परन्तु इस दिशा में कोई सार्थक प्रयास नही हो पाया। 1985–86 में इंडिया आवास योजना से ग्रामीण आवासों की समस्या सुलझती नजर आयी। तब से आवास निर्माण प्रक्रिया जारी है और विभिन्न सरकारें तेजी से इस कार्य को सम्पादित कर रही है।

ग्रामीण क्षेत्रो में सड़कों के निर्माण की प्रक्रिया को तेज किया जा रहा है साथ ही इन्हे शहरों से भी जोड़ने के प्रयास जारी हैं। सरकार की नई संचार नीतियों के अंतर्गत अब दूरभाश को गाँव तक पहुचायाँ गया है। राश्ट्रीय फसल बीमा योजना के अंतर्गत किसानों की फसलों को बीमा सुविधा उपलब्ध कराई गयी

है जिससे यह उम्मीद बनती है कि आन्ध्रप्रदेश और महाराश्ट्र की भॉति अन्य किसान भी आत्महत्या करने को बाध्य न होंगे।

ग्रामीण लोगों की खुद की विकास संम्बन्धी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए और उन्हें सशक्त बनाने की सोच को एक लम्बे समय से मान्यता दी जा रही है। इस ग्रामीण विकास की प्रक्रिया को तेज करने में स्वयंसेवी संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं। विभिन्न राज्यों द्वारा महिलाओं के कल्याण के लिए चलाई जा रही योजनाओं को भी नवाचार के रूप में देखना अनिवार्य है।

विभिन्न विकास योजनाएं

भारत की आजादी के पश्चात् हमारी प्रजातांत्रिक सरकार का उद्देश्य देश की जनता का जीवन स्तर ऊँचा करना है। देश की जनता की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए योजनाबद्ध ढंग से कार्य करने हेतु 1 अप्रैल 1951 से पंचवर्षीय योजनाओं (आर्थिक नियोजन का युग) का प्रादुर्भाव हुआ है। गावँ प्रशासनिक दृष्टि से राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई है। गांव के संर्वागीण विकास के लिए इन पंचवर्शीय योजनाओं के माध्यम से देश की आर्थिक स्थिति को गतिशील करने की प्रक्रिया आरंम्भ हुई। देश में ग्रामीण विकास हेतु अपनाये गये विभिन्न कार्यक्रमों का विवरण निम्नलिखित हैः–

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952)
2. राष्ट्रीय विस्तार सेवा (1953)
3. खादी एवं ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम (1957)
4. ग्रामीण आवासीय परियोजना (1957)
5. बहुउद्देशीय अनुसूचित जनजाति विकास कार्यक्रम (1957)
6. पैकेज कार्यक्रम (1957)
7. गहन जिला कृषि कार्यक्रम (1960)
8. व्यावहारिक आहार कार्यक्रम (1962)
9. ग्रामीण उद्योग परियोजना (1962)
10. गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (1964)
11. उच्च उत्पादकता वाली किस्मों का कार्यक्रम (1966)
12. किसानों का प्रशिक्षण एवं शिक्षा कार्यक्रम (1966)
13. कुँआ निर्माण कार्यक्रम (1966)
14. जनजाति विकास खण्ड कार्यक्रम (1966)
15. ग्रामीण कार्यक्रम (1967)
16. ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम (1969)
17. सूखा पीड़ित क्षेत्र कार्यक्रम (1970)
18. ग्रामीण रोजगार हेतु नगद योजना (1971)
19. लघु कृषक विकास एजेन्सी (1971)
20. जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम (1972)
21. पाइलट गहन ग्रामीण रोजगार (1972)
22. न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम (1972)
23. ग्रामीण जल आपूर्ति योजना (1972–73)
24. कमाण्ड एरिया विकास कार्यक्रम (1975)

25. विशेष दुग्ध उत्पादन कार्यक्रम (1972)
26. काम के बदले अनाज कार्यक्रम (1977)
27. रेगिस्तान क्षेत्र विकास कार्यक्रम (1977)
28. सम्पूर्ण ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1979)
29. स्वरोजगार हेतु ग्रामीण युवा प्रशिक्षण कार्यक्रम (1979)
30. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1979)
31. राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1980)
32. राष्ट्रीय भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (1980)
33. ग्रामीण क्षेत्रों में महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम (1983)
34. इन्दिरा आवास योजना (1985)
35. केन्द्रीय ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम (1986)
36. सामाजिक सुरक्षा कोश
37. सामूहिक बीमा योजना
38. आबादी पर्यावरण सुधार परियोजना का कार्यक्रम
39. जल धारा एवं कुटीर ज्योति कार्यक्रम
40. जवाहर रोजगार योजना कार्यक्रम
41. सुनिश्चित रोजगार योजना (1993)
42. पेयजल योजना (1993)
43. ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान योजना (1994)
44. अम्बेडकर ग्राम विकास योजना(1994)
45. सुखोन्मुख क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (1994)
46. राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम (1995)
47. राष्ट्रीय बायोगैस विकास योजना (1995)
48. विशेष अभिनव रोजगार योजना (1995)
49 राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (1995)
50. स्कूली बच्चों का मध्याहन भोजन कार्यक्रम (1995)
51. जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (1999)
52. स्वजल योजना (1999)
53. ग्रामीण आवास योजना (1999)
54. प्रधानमंत्री स्वर्ण रोजगार योजना (2000)
55. राजीव गाँधी ग्रामीण विद्युत योजना (2005)
56. राजीव गाँधी श्रमिक कल्याण योजना (2005)
57. जननी सुरक्षा योजना (2005)
58. भारत निर्माण योजना (2005)
59. राष्ट्रीय बाल श्रम उन्मूलन योजना (2007)
60. पंचायती राज
61. प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना
62. केन्द्रीय ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम
63. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम

64. अन्नपूर्णा
65. स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना
66. समेकित बंजर भूमि विकास कार्यक्रम
67. सूखा बहुल क्षेत्र कार्यक्रम
68. मरूस्थल विकास कार्यक्रम
69. अटल आवास मनरेगा

उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त भी कई कार्यक्रम आरंम्भ किये गये हैं। जिनका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों का सर्वांगीण विकास रहा है। संविधान के 73वें संशोधन द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करने का प्रयास किया जा रहा हैं। वर्तमान में भारत सरकार के ग्रामीण विकास के निम्नलिखित कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं।

1. मनरेगा (MGNREGA)
2. प्रधानमंत्री आवास योजना– ग्रामीण (PMAYG)
3 राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM)
4. प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना (PMGSY)
5. सांसद आदर्श ग्राम योजना (SAGY)
6. अन्त्योदय योजना (MISSION ANTODAYA)
7. दीन दयाल उपाध्याय ग्रामीण क्षेत्रीय योजना (DDUGKY)
8. राष्ट्रीय समाज सहायता कार्यक्रम (NSAP)
9. महात्मा गाँधी नेशनल रूरल एम्पलायमेन्ट गारंटी एक्ट

विगत कई वर्षों से भारत के सामाजिक जीवन, उत्पादन एवं कार्य नीतियों में मूलभूत परिर्वतन आया है। सरकार की सफल आर्थिक नीति के फलस्वरूप देश में गरीबी निवारण, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना, कृषि उत्पादन, लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास हुआ है जिसमें राष्ट्रीय बैंकों का साख वितरण में महत्वपूर्ण योगदान है। वास्तव में ग्रामों के सन्तुलित, सर्वांगीण एवं तीव्र विकास पर ही भारत का सर्वांगीण विकास निर्भर हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश बड़ी संख्या में ग्रामवासी निर्धन हैं। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने के लिए अनेक कदम उठाये गये हैं। किन्तु ये भी सत्य है कि इनके अपेक्षित परिणाम सामनें नहीं आये हैं।

देश में गरीबी का विभाजन भी असमान है। गरीबी की जड़े बहुत ही गहरी जमी हुई हैं, इन क्षेत्रों में गरीबी अधिक होने के कारण कृषि, उद्योग और अन्य क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं का अभाव, उत्पादकता की अविकसित प्रणालियों का प्रचलन है। ग्रामीण विकास की नीतियां मात्र संख्यात्मक लक्ष्य प्राप्त करना नहीं बल्कि गरीब जनता में जागरूकता पैदा करना है। ग्रामीण स्तर का जो सरकरी तंत्र औ नौकरशाही रचना है वह गरीबों के लिए बनाये गये ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए पर्याप्त नहीं है। ग्रामीण समाज की दशा आज ऐसी है जिससे सामाजिक न्याय की कल्पना करना बिल्कुल निराधार है। अतः ग्रामीण समाज को हमें एक सामाजिक परिवर्तन के रूप में देखना होगा। आशा है कि आगामी पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण विकास की इन कमियों को दूर करनें की नीतियां तैयार की जानी चाहिए जिससे विकास का सभी क्षेत्रों में सन्तुलित फैलाव हो सके।

निष्कर्ष

इस प्रकार योजना कालों में ग्रामीण विकास के लिए हालांकि बहुत सारे कार्य और विकास योजनाएं चलाई जा रही है फिर भी विकास की धीमी गति के लिए कई कारण उत्तरदायी हैं। जिसमें सरकारों और योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले विभागीय अधिकारियों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। गॉवों में शैक्षिक सुविधाएं वांछित स्तर की नहीं है। स्कूलों में साजों सामान और अध्यापकों की कमी है। गॉवों में अच्छी चिकित्सा सुविधा का अभाव है। बहुत से गॉवों में अभी भी अच्छी यातायात व्यवस्था दूर की बात है। ग्रामीण विद्युतीकरण में भी अभी बहुत सी खामियॉ बनी हुए है हमेशा बिजली की कमी की शिकायत बनी रहती है। ग्रामों में साख की सोचनीय सुविधाएं भी ग्रामीण ग्रस्तता के लिए उत्तरदायी रही है यद्यपि इन सुविधाओं का बडें स्तर पर गॉवों में विस्तार किया गया है, किन्तु स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। विशेषकर इसलिए कि कुछ प्रभावशाली व्यक्ति इन सुविधाओं के एक बडे अंश को हथिया लेते है। सामाजिक बरोजगारी, लघु उद्योगों की दयनीय दशा और उनकी समुचित प्रगति के लिए प्रोत्साहन की कमी, विभिन्न रीति रिवाजों पर व्यर्थ का व्यय, इन सबने ग्रामीण जनता को निर्धन बनाने में योगदान दिया हैं। अब समय आ गया है कि हम अपनी प्राथमिकताओं का पुनः मूल्यांकन करें और ग्रामीण जनता की दशा सुधारने के कार्य में ध्यान केन्द्रित करे। गॉवों में वनीकरण कार्यक्रम भी तीव्र गति के साथ चलाया जाना चाहिए, उर्जा संरक्षण तथा नव्यकृत संसाधनों के प्रयोग पर बल दिया जाना चाहिए। सिंचाई सुविधाओं का तीव्र गति से विस्तार किया जाना चाहिए। आज ग्रामीण विकास में वृद्धि के लिए प्रमुख चुनौती कृषि विकास के लिए उत्पादकता में वृद्धि, रोजगारों का सृजन और निर्धन वर्ग को आमदनी के स्रोत उपलब्ध कराने की है। निर्यात में वृद्धि और भूमि सुधार काफी आवश्यक है। पशुधन प्रसार और गुणवत्ता वृद्धि की ओर भी ध्यान देना होगा। कृषि तकनीकी को उत्पादन जनित की ओर से लाभ जनित की ओर ले जाना होगा। स्वरोजगारों पर भी बल देना होगा।

सन्दर्भित पुस्तकें

1. गुप्ता,एस0पी0 – "भारत में ग्राम विकास के चार दशक" ग्राम विकास प्रकाशन कमिशनर्स कम्पाउण्ड इलाहबाद (1987) पृ0 25
2. विश्वकर्मा एम0 एल0 – "भारत में ग्रामीण विकास की नीतियाँ कार्यक्रम एवं मूल्यांकन" कुरूक्षेत्र कृषि मंत्रालय, ग्रामीण विकास विभाग कृषि भवन नई दिल्ली (1989)पृ0 2
3. नेहरू, जवाहरलाल– "डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" एशियन पब्लिशिंग हाउस,मुबई (1972) पृ0 248
4. नादीना,मोहसिना–"रूरल डेवलपमेंन्ट थ्रू गर्वन्मेंट प्रोग्राम" मित्तल पब्लिकेशन लारेन्स रोड़ दिल्ली (1985) पृ0 2
5. देसाई, बसन्त – "रूरल डेवलपमेंन्ट वाल्यूम–1 इश्यूज एण्ड प्रॉबलम्स्" हिमालय पब्लिशिंग हाउस मुम्बई (1988) पृ0 17
6. चीमा जी शब्बीर(सम्पादक) –"रूरल डेवलपमेंन्ट इन एशिया" स्ट्रेलिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,नई दिल्ली (1988) पृ0 17
7. मिर्डल, गुन्नार– "आर्थिक सिद्धांत और अर्द्ध विकसित क्षेत्र" प्रकाशन मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (1983) पृ0 99
8. मिश्रा एस0 एन0 एवं डा0 मिश्रा श्वेता – "भारत में ग्रामीण विकास के 50 वर्ष" कुरूक्षेत्र कृषि मंत्रालय, ग्रामीण विकास विभाग, कृषि भवन दिल्ली (मार्च,2003) पृ0 3
9. मिश्रा विद्याधर – "विलेज लाइफ इन इण्डिया (पास्ट एण्ड प्रजेन्ट)" अजन्ता पब्लिकेशन, शक्तिनगर दिल्ली (1988) पृ0 152
10. मुकेश चहल – "सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट, इश्यू एण्ड चैलेन्जेज" पेपर प्रेजेन्टेड इन इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ मेनेजमेन्ट रिसर्च एन्ड रिव्यू (मार्च 2015)
11. ब्राउन जे0बी0, गुलाटी ए0, हेज ल पी0, रोजग्रान्ट एम0 वी0– "रूरल डेवलपमेन्ट– स्ट्रेटेजिक इश्यू एण्ड रिफॉर्म आप्शन"।

खुकुरी : कलात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन

दिव्या थापा *

हथियारों का प्रयोग प्रागैतिहासिक काल से ही मानवों द्वारा होता आ रहा है। आदिम मानव पत्थर, हड्डी और लकड़ी के मोटे व भद्दे औजार बनाता था।[1] कालान्तर में पत्थर का स्थान धातु के औजार व अस्त्र–शस्त्रों ने ले लिया। जिसका विकसित स्वरूप हमें वर्तमान में दृष्टिगोचर होता है। विविध प्रयोजनार्थ प्रयोग में आने वाले उपकरणों में खुकुरी का नाम बड़े ही शान से लिया जाता है। बहुआयामी उपयोगिता वाले इस उपकरण को हथियार के साथ ही दैनिक जीवन के औजारों के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है।

खुकुरी का नाम आते ही गोरखा सैनिकों की वीरता का स्मरण सरस ही हो आता है। यह केवल एक हथियार नहीं है अपितु गोरखाओं की सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग है। खुकुरी में होने वाले अलंकरण इस समुदाय की वीरता के साथ–साथ कलाप्रियता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आज खुकुरी गोरखा सैनिकों का पर्याय बन चुका है। गोरखाओं का प्रमुख हथियार 'खुकुरी' अथवा 'खुकरी' विश्व प्रसिद्ध रहा है। किवंदन्ति के अनुसार गुरू गोरखनाथ जी नें अपना खुकुरी उपहार स्वरूप गोरखाओं के पूर्वजों को प्रदान किया था।[2] खुकुरी गोरखाओं का राष्ट्रीय हथियार है, यह एक छोटा, चौड़े व मुड़े हुए ब्लेड युक्त भारी चाकू है, जिसको चमड़े के म्यान में डालकर कमर में कपड़ा लपेट कर धारण किया जाता है।[3]

खुकुरी का इतिहास देखे तो इसकी ब्लेड की आकृति प्राचीन ग्रीक की तलवार से साम्य रखती है जो लगभग 2500 वर्ष पूर्व की मानी जाती है। इसकी बनावट की तुलना प्राचीन मैसेडोनिनों के तलवार बाज घुड़सवारों के तलवारों से भी की जाती है। जिसे अलेक्जेंडर महान के चौथी शताब्दी ईसा पूर्व उत्तरी पश्चिमी भारत में आक्रमण के समय प्रयुक्त किया था। सम्भवतः जिसकी अनुकृति स्थानीय लौहार या कामियों ने कर ली हो। इसके अतिरिक्त प्रचीन जपानी तलवार निर्माण की विधि भी खुकुरी निर्मिति की विधि से समानता रखती है।[4] कुछ विद्वान सबसे प्राचीन खुकुरी गोरखा राजा द्रब्य शाह (1627 ई0) की मानते है, जो अरसेनल संग्रहालय, काठमाँडू में सुरक्षित है।[5] इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम खुकुरी का प्रयोग किरातों द्वारा किया गया, जिन्होंने नेपाल में सातवी शताब्दी के आसपास शासन किया था।[6] उत्तराखण्ड में पिथौरागढ़ के कुमौड, विशाड़ और नकुलेश्वर में सूर्य मूर्ति में भी कमर पर खुखरी का अंकन हुआ है। जिससे इसकी लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

खुकुरी सामान्यतः अर्द्धचन्द्राकार आकृति की बहुमुखी उपयोग में लाये जाने वाला हथियार है। सामान्यतः इसका छुरी वाला भाग ईस्पात द्वारा निर्मित होता है। मूठ या दस्ता लकड़ी का व म्यान लकड़ी अथवा चमड़े का बना होता है। जिसमें अनेक धातुओं द्वारा अलंकरण किया जाता है। मान्यता है कि खुकुरी की वक्र आकृति भगवान शिव के त्री नेत्र के समान बनाया गया है। गोरखाली समुदाय में विभिन्न प्रकार की खुकुरियाँ प्रयोग में लायी जाती है जो निम्न है–

सामान्य खुकुरी– इस प्रकार की खुकुरी दैनिक जीवन के कार्यो में प्रयुक्त होते हैं। इसको हथियार के साथ–साथ औजार के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है। सामान्यतः इसके साथ एक म्यान तथा दो छोटे चाकू के आकार खंजर भी होते है। जिसे चकमक तथा करडा कहते है। चकमक छोटे चाकू के रूप में प्रयुक्त होता है। वही चकमक दोनो ओर से कुन्द होता है, जो धार देने हेतु उपयोग में लाया जाता है। साथ

* शोधार्थी (चित्रकला) सोबन सिंह जीना परिसर, अल्मोड़ा, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

ही चकमक को रगड़ने पर चूने पत्थर से आग जलाया जा सकता है। सम्पूर्ण खुकुरी बहुत ही कलात्मक और वैज्ञानिक ढंग से निर्मित की जाती है। अपनी बनावट के कारण ही यह अस्त्रों में इतना अनुठा और विश्व प्रसिद्ध है। गोरखालियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने जहाँ भी अच्छी वस्तुएँ देखी उसे अपनी कला में आत्मसात कर लिया। गोरखालियों के आयुध बनाने के कारखाने थे। जिसमें वे भाले बर्छे, तलवार, खुखरियाँ, बन्दूकें, तोपें आदि का निर्मिण करते थे।[7]

स्टील का बना खुकुरी का ब्लेड ऊपरी व निचली दो पृष्ठों में विभक्त होता है। सबसे उपरी छोर को नोक (टुप्पा) तथा अन्तिम सीरे को पूछ (पुच्छड़) कहा जाता है। मुख्य अंग के बीच वाला भाग को उदर (भूड़ी) कहलाता है। ऊपरी तथा निचली पृष्ठों के बीच में एक बिन्दु जिसे शिखर (जूरो) कहा जाता है से दो नालिया नुमा उत्कीर्ण की जाती है जो रक्त को चारो ओर फैलने से रोक कर एक बिन्दु से बहकर निकलने में सहायता करती है। इसके निचले भाग में नोक से लेकर निशान (कुदी) तक धार लगी रहती है। कहा जाता है कि निशान की आकृति गाय के खुर के समान होती है जो रक्त अवरोधक का कार्य करती है और रूधिर को हाथों तक पहुँचने नहीं देती। इसके पश्चात् ब्लेड वाले भाग को हत्थे से जोडने के लिए भाग (कान्जो) बनता है। जिसे हत्थे में दो जगह कीलों की सहायता से जोड़ा जाता है। हत्थे के मध्य में छल्ले नुमा रेखा उकेरा जाता है, जिससे पकड़ सही बन सके। हत्थे के अन्त में धातु का ठक्कन (छापरी) लगाया जात है। खुकुरी को रखने के लिए चमड़े अथवा लकड़ी का म्यान बनाया जाता है, जिसमें उसका ब्लेड वाला भाग पूर्णतः आ जाये।

कटाराकृति खुकुरी– इस प्रकार के खुकुरियों की आकृति सामान्य खुकुरियों से मिलती जुलती है। किन्तु यह छुरियों से अधिक साम्य रखती है।

मार खुकुरी– मार खुकुरी सामान्य खुकुरी से लम्बाई में अधिक होती है। इसका प्रयोग पशुओं की बलि देने में किया जाता है। अधिक लम्बाई मार करने में सहायक होती है।

सज्जात्मक खुकुरी– गोरखा समूदाय तथा गोरखा रेजिमेंट में किसी को उपहार या स्मृति चिन्ह भेट करने के लिए सज्जात्मक खुकुरी देने का प्रचलन है। इस प्रकार की खुकुरियों की म्यान बड़े ही कलात्मक ढंग से निर्मित किया गया होता है। सुन्दर अलंकरण युक्त इनमें लाल मखमल के कपड़ों का प्रयोग होता है, जिसके उपर रजत, मोतियों, नगों आदि सुन्दर अलंकरणों द्वारा सुसज्जित किया जाता है। इस प्रकार की खुकरियों में कोठीमोरा (गोरखा मेमोरियल म्यूजियम, पोखरा नेपाल) खुकरी प्रचलित रही है। जिसके ब्लेड की लम्बाई चार इंच से ग्यारह इंच तक होते है। सुन्दर अलंकरण के कारण कोठीमोरा खुकुरी को विवाह के अवसरों पर वर–वघु द्वारा भी धारण करते है।

चैनपुरी काष्ठ खुकुरी– यह खुकुरी दिखने में अत्यन्त सुन्दर होता है। जिसका कारण इसके ब्लेड में किये जाने वाले उत्कीर्णन है। सुन्दर अलंकृत उत्कीर्णन से युक्त यह खुकुरी गोरखाओं की कला प्रियता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी म्यान सामान्यतः काष्ठ द्वारा निर्मित की जाती है।

इनके अतिरिक्त चितलंग खुकरी, पनावल खुकरी, सेरेमोनियल (समारोह) खुकरी, सेवा खुकरी और सामान्य खुकरी[8] विभिन्न आकार–प्रकार के प्राप्य है। वीरता के प्रतीक स्वरूप लोग अलंकृत खुकुरी को टोपी, ब्राँच आदि में धारण करते है। गोरखाओं की वीर गाथा खुकुरी के बिना अपूर्ण है। यह मात्र एक हथियार नहीं वरन गोरखाओं का सम्पूर्ण इतिहास तथा संस्कृति है।

संदर्भ :

1. अग्रवाल, आर0 एस0, कला विलास भारतीय चित्रकला का विकास, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, प्रथम संस्करण 1979, पृ0सं0–10
2. Rai, Bandana, Gorkhas- The Warrior race, Kalpaz Publication, Satyawati Nagar, Delhi, Published- 2009, Pg-07
3. Northey, Major W. Brook, The Gurkhas: Their Manners, Customs and Country, Published by Asian educational Services, Hauz Khas Village, New Delhi, 2001, Pg-93
4. http://www.khukuriblades.com/kukri_history/
5. Thakar, Brig B S, An Illustrated saga of the gorkha brigade (1952-2012), Army printing press, Lucknow, 2012, Pg-36
6. http://www.khukuriblades.com/kukri_history/
7. डबराल, शिव प्रसाद, गोरख्याणी–1 पर्वतीय राज्यों का विध्वंस, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा, गढ़वाल, संवत 2030, पृ0सं0–256–257
8. गोरखा मेमोरियल म्यूजियम, पोखरा, नेपाल

जिला भिण्ड–सामान्य परिचय

डॉ. श्रीमती कुंजा मिश्रा

ऐसी बात नहीं है कि लोग प्रदेश या राष्ट्र स्तर पर भिण्ड का नाम न जानते हों फिर भी जब कभी भिण्ड का नाम अखबार की सुर्खियों में आता है तो हर शख्स के दिल में एक अजीब सी हलचल पैदा होने लगती है, शायद यही वजह हो कि यह जिला डाकूग्रस्त रहा है और डाकू आए दिन स्वच्छन्द घूमा करते हैं, उन्हें किसी का खौप नहीं, पर ऐसी बात नहीं है। अभी तक किसी इतिहासकार या अन्वेशक की पेनी दृष्टि भिण्ड जिले के ऐतिहासिक संदर्भों और पौराणिक साक्ष्यों की ओर नहीं गई है। शोधार्थी को अपने शोध अनुभवों से ज्ञात हुआ है कि जिले के अनेक पहलुओं पर किसी भी खोजक की विहंगम दष्टि नहीं पड़ी है। सच पूछो तो यह क्षेत्र भिण्ड बनने के पूर्व इतना प्राचीन है जितने हमारे पौराणिक ग्रन्थ। अब समय की पुकार है कि हम भिण्ड जिले के अस्तित्व और वर्चस्व का आँकलन ऐतिहासिक प्राच्य के आधार पर करें। अभी तक हमें जो भी शोध उपलब्ध हुये हैं, उनके आधार पर यह सकते हैं कि यह क्षेत्र वैदिक और पौराणिक युग में भी वर्णित हैं, ठीक उसी तरह जैसे भरतखण्डे, जम्बूदीप इत्यादि।

शोधार्थी ने ''सामान्य परिचय–जिला भिण्ड'' का सम्पूर्ण वांड़मय प्रस्तुत किया है जिसके अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है–

1. भिण्ड जिले का ऐतिहासिक परिदृश्य

मेरा प्रयास है कि मैं भिण्ड के अतीत की झांकी का परिचय जनमानस को कराऊँ इस प्रमाणिकता के साथ कि इसकी प्राचीनता उतनी ही मान्य है जितनी की भारत की ऐतिहासिकता। 'रामजन्म का नाता भिण्ड से भी जोड़ा जाता है। पौराणिक साक्ष्य है कि देवर्शि नारद, महर्षि जमदग्नि ने भिण्ड जिले की पावन भूमि पर तपस्या की थी। महान तपस्वी श्रंगी ऋषि के पिता विभाण्डक के नाम पर ही भिण्ड कहलाया। क्षेत्र उस समय भिण्ड भदावर नहीं था और न कोई विशेष जाति ही निवास करती थी। इसी वियावन जंगल में प्रख्यात तपस्वी ऋषि विभाण्डक तपस्या तपस्या किया करते थे। कालान्तर में उनका नाम बिगड़कर भाण्डिक हो गया और जनस्वर में भिण्डी ऋषि कहा गया और इन्हीं के नाम पर बसावटें चालू हो गई जो भिण्ड के नाम से जानी गई।

जनुश्रुति है कि वनवास के समय पाण्डव चकरानगरी (चकरनगर) होते हुये

छदम्भेश में विभाण्डक ऋषि के आश्रम में आए थे और लौटकर यहाँ कुछ काल तक रहे, उस स्थान का नाम आज पांडरी गाँव है, मनुयुग में भी यह क्षेत्र अंकित है। बाद को यह क्षेत्र सूरसेन के नाम से जाना गया। कालान्तर में सूरसेन प्रदेश का पूर्वी भाग भदावर प्रदेश कहलाया। पौराणिक युग रामायण और महाभारत काल में सूरसेन के साथ भद्रके और भदावर स्थानों का उल्लेख मिलता है। रामायण में एक दृष्टांत आया है कि वानरराज सुग्रीव ने माँ सीता की खोज में सूरसेन प्रदेश और भद्र के प्रदेशों में वानरों को भेजा था। यह प्रसंग महाभारत में भी आया है। जब जरासंघ के द्वारा भागे हुये नागरिकों के बारे में भगवान कृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर को सूरसेन भद्रकारा स्थलों का उल्लेख करते हैं। यह सन्दर्भ महाभारत 'सभापर्व' राजसूर्यारम्भ पर्व 14 / 26 / 27 / 28 पर अंकित है। मनुस्मृति में सूरसेन की गणना बृह्मवर्त के प्रमुख देशों में की गई है। महाभारत के कर्ण पर्व में सूरसेन के निवासियों को यज्ञ की विधियों के अनुसार चलने वाला कहा गया है। व्यासजी लिखते है कि पंचालवासी वैदिक नियमों का, कौरव धर्माचार का, मत्स्य लोग सत्य का तथा सूरसेनवासी यज्ञ की विधियों का पालन करते है।

भागवत पुराण में प्रसंग आता है कि वासुदेव की बारात सूरसेनपुर होती हुई मथुरा गई थी। विष्णु पुराण और हरवंश पुराण में भी इस प्रदेश का उल्लेख आता है। मेगस्थनीज ने इस प्रदेश को 'सोर सेनाई' तथा एरियन ने 'सूर सन्देई' के नामों से वर्णित किया है। आचार्य जिनदेव की हरवंश कथा में उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में सूरसेन प्रदेश की राजधानी मथुरा थी। मनुस्मृति में लिखा है कि सूरसेन ऐसा प्रदेश था जहाँ आकर संसार के सभी लोग सदाचार सीखते थे (मनुस्मृति पृ.2/20)। राजपूत युग में अग्निवंशीय राजाओं के पूर्वी भाग को भदावर तथा पश्चिमी भाग को ब्रजप्रदेश कहा जाने लगा। कुछ विद्वानों का मानना है कि बटेश्वर महाराज यहाँ के राजाओं के कुल देवता थे, इसीलिए उनके नाम पर यह प्रदेश भदावर कहलाया। जैन आचार्यो का मानना है कि भदावर भगदलपुर का अपभ्रंश है। बटेश्वर के जैन मन्दिरों से प्राप्त जैनाचार्यो की पट्टावली में भगदलपुर का उल्लेख है (लवेंचू समाज का इतिहास पृष्ठ 15)। कहा जाता है कि इस क्षेत्र पर अजातशत्रु का भी अधिकार रहा है। यूनानी प्रमाण के अनुसार सूरसेन पर मगध का अधिकार 320 ई. पू. हुआ था। कुछ समय परिवर्तन के साथ भदावर पर चन्देल राजा परमार्दिदेव का भी आधिपत्य रहा परन्तु कालान्तर में राजा पृथ्वीराज ने एक शिवलिंग की स्थापना की थी, उसी स्थान पर एक सुन्दर मंदिर बनवाया गया था जिसे हम वनखण्डेश्वर मंदिर के नाम से जानते हैं। मुस्लिम आक्रमणों के दौरान यह क्षेत्र मेवों के अधिकार में भी रहा, लेकिन भदौरियों ने मेवों को हराकर यह क्षेत्र अपने कब्जे में ले लिया था तब से आए दिन भदौरिया, कछवाह इस क्षेत्र में अधिक पाए जाते हैं।

2. भिण्ड जिले की भौगोलिक स्थिति

भिण्ड जिला भारतवर्श के मध्यवर्ती राज्य मध्यप्रदेश के उत्तर–पश्चिम में स्थित है। भिण्ड जिले अक्षांशीय विस्तार 25–55° उत्तरी अक्षांश से 26–48° उत्तरी अक्षांश के मध्य तथा देशान्तरीय विस्तार 78–12° से 89–05° पूर्वी देशान्तर के मध्य है। जिले की समुद्र तल से ऊँचाई 152 से 183 मीटर है। जिले का क्षेत्रफल जिला सांख्यिकी पुस्तिका वर्ष 1995 के अनुसार 4459.0 वर्ग किलोमीटर है। जिले की तहसीलें अटेर, भिण्ड, मेहगाँव, गोहद, रौन, मिहोना व लहार है। जिले की सीमा के दो प्रकार हैं– 1. प्राकृतिक 2. कृत्रिम। प्राकृतिक सीमा का निर्धारण उत्तर दिशा में चम्बल नदी, पश्चिम में क्वाँरी (कावेरी) एवं पूर्व में पहुँज–सिंध है। कृत्रिम सीमा के रूप में जिले के उत्तर में उत्तर प्रदेश का इटावा जिला, पूर्व में जालौन तथा दक्षिण में दतिया और ग्वालियर एवं पश्चिम में मुरैना स्थित है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार भिण्ड जिले की कुल जनसंख्या 14,26,951 हैं, जिसमें पुरुषों की संख्या 7,80,122 है एवं महिलाओं की संख्या 6,46,829 है। जिले का लिंगानुपात प्रतिहजार पुरूशों पर 816 है एवं जनसंख्या का घनत्व 320 है तथा वृद्धि दर 17.06 प्रतिशत है। संरचना की दृष्टि से भिण्ड जिले का पश्चिमी भाग मध्यभारत का पठार और पूर्वी भाग बुन्देलखण्ड का पठार है। पश्चिम में मध्यभारत का पठार व पूर्व में बुन्देलखण्ड नीस के मध्य बनी नतिलम्ब घाटी से होकर ही इस जिले में चम्बल का प्रवाह देखा जाता है। गोहद तहसील ग्वालियर रेंज का ही एक भाग है जो विंध्ययन शैल समूह से जुड़ा हुआ है। इसे छोड़कर सम्पूर्ण जिले में औसत 25 मीटर की गहराई तक चट्टानी सतह नहीं पाई जाती, मिट्टी की मोटी सतह (परतें) पाई जाती हैं। भूरचना की दृष्टि से जिले को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। 1. चम्बल घाटी 2 भिण्ड का मैदान 3. लहार का पठार। भिण्ड जिले में कोई खनिज नहीं पाए जाते। जिला मानसूनी जलवायु के अन्तर्गत आता है। मिट्टी अधिकतर जलोड है। भिण्ड में नदियों के रेत का व्यापार अच्छा है।

3. भिण्ड जिले की सामाजिक स्थिति

भिण्ड जिले का समाज अधिक सन्तोशप्रद नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण समाज जातियों के कठोर बन्धन में बँधा हुआ है। अधिकांश जनता अन्धविश्वास, अज्ञान और रूढ़ियों से अभी तक नहीं उबर पाई है। बदले

की भावना अभी भी चल रही है। सहनशक्ति का अभाव है, अन्याय बर्दाश्त करने की ताकत जनता में नहीं है इसलिये दस्यु समस्या विकराल है। इन सब बातों के बावजूद भी यहाँ का समाज धर्मप्रेमी है। गीता और रामायण हर घर में पढ़े जाते हैं। अधिकतर जिले में हिन्दू समाज ही रहता है लेकिन मुसलमान भाई भी हमारे हिन्दू भाईयों की तरह ही रहते हैं, दोनों में विरोध नाम की कोई चीज नहीं है। समस्त चम्बल घाटी डाकू समस्या से ग्रसित रही है और यहाँ के निवाासी राश्ट्रीय धारा से अभी भी नहीं जुड़ पाए हैं। इसका कारण संसाधन की कमी और आवागमन के साधनों का अभाव है। गर्व की केवल एक ही बात है कि यहाँ के निवासियों को योद्धा (Warrior Race) का दर्जा हासिल हुआ है। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध में यहाँ के युवाओं ने फौज में भर्ती होकर अप्रतिम शौर्य का परिचय दिया है। स्वभाव से यहाँ के लोग अपनी जवान के पक्के हैं। अन्य जिलों की तुलना में शिक्षा का प्रतिशत बहुत अधिक है पर बेरोजगारों की संख्या सर्वाधिक है। निवासियों का रहन–सहन बहुत सादा है। अस्सी प्रतिशत लोग धोती कुर्ते में रहते हैं। भिण्ड जिले में बाल–विवाह प्रथा नहीं है, पुनर्विवाह का चलन भी ना के बराबर है। दहेज प्रथा का बोलबाला अभी भी है जो बुराई है। यहाँ का मुख्य भोजन शाकाहारी है। पशुपालन व्यवसाय संतोशजनक है। जिले का सामाजिक ढाँचा जातिवाद बसावट की प्रधानता है। सम्पूर्ण जिला घारों में बटा है– 1. भदावर घार 2. कछवाह घार 3. रजपूत घार 4. तौर घार 5. गूजर घार 6. जटवारा घार। आर्थिक दृश्टि से यहाँ के लोग सरसब्ज नहीं है। उनकी माली हालत भी कमजोर है, केवल 3 प्रतिशत लोग पैसे वाले हैं। सामान्य जनता खाती–पीती भर है।

4. भिण्ड जिले की धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति

भिण्ड जिला धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। सम्पूर्ण जिले में घर–घर दुर्गा पूजा होती है नवरात्रा व्रत रखते हैं और कन्याओं को भोजन खिलाते हैं। गनगौर, रामनवमी, हनुमान जयन्ती, अक्षय तृतीया, वटअमावस्या, गंगादशमी, निर्जला एकादशी, गुरू पूर्णिमा, नागपंचमी, रक्षाबंधन, जन्माश्टमी, हरतालिका व्रत, गणेश चतुर्थी, मोरछट, सन्तान सप्तमी व्रत, अनन्त चतुर्दशी व्रत, महालक्ष्मी व्रत, पितृपक्ष, नवरात्र सुअटा, दशहरा, कार्तिक, स्नान, दीपावली, गोवर्धन पूजा, भाई दूज, देवउठनी एकादशी, संकटा चतुर्थी (संकटियाँ), मकर संक्रान्ति, बसन्त पंचमी, महाशिवरात्रि, होलिकोत्सव उपयुक्त सभी त्यौहारों व पर्वों को जनता बड़े भक्तिभाव से और श्रद्धा से मनाती है। भिण्ड जिले में मेला के माध्यम से भारतीय संस्कृति का बहुरंगी स्वरूप स्पश्ट दिखाई देता है। मेलों से संलग्न कई देवालय भी है जहाँ जनता भगवान की पूजा अर्चना करती रहती है। भिण्ड जिले में इस प्रकार के मेलों की संख्या लगभग 47 है जिनको सूचीबद्ध किया है चरथर, पुलावली, कनावर, कचनाव खुर्द, पावई, दुल्हागन, बरई मेला, भिण्ड–नसिया, बिलाव, अटेर, गोहद, बरौना, बसौरा, बिड़खरी, मौ, अजनार, अमायन, मेघपुरा, बरासो, गोरमी, तेजपुरा, मेहगाँव, अमाह, रेहला सिहोनी, कांकसी, असमी, इन्दुरखी, बन्थरी, बालाजी, लहार, कुरथर, रहावली, उवारी, अजनार, अखदेवा, थेंथरी, देवरी, तुमान, आलमपुर, बड़ोखरी, सोसरा, रौन आदि देहाती मेले हैं। इन मेलों में भिण्ड जिले की संस्कृति का सम्पूर्ण वांड्.मय देखने को मिलता है। खानपान,बोलियों की विविधता, रहन–सहन और उनके स्वभावगत परिवर्तन की लहरें उभरती दिखाई देती हैं। ये सारे मेले भिण्ड जिले की संस्कृति के दर्पण हैं।

चम्बल घाटी में मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की संस्कृति का रोचक मिश्रण मिलता है। भदावरी बोली, ब्रज और बुन्देली भाशा का मधुर मिश्रण हैं। जिले में चार–चार नदियाँ बहती है। सम्पूर्ण जिला नैसर्गिक सौन्दर्य से आप्लावित है। जंगल में मंगल है। यहाँ के लोग फूलों का हार और काँटों का हार को

एक ही अहमियत देते हैं। शौर्यता की चर्चाएँ और गीत हर जगह मिलेंगे। लोकगीतों के अर्न्तगत 'आल्हा' वर्षात में खूब पढ़ी जाती हैं। देवी के गीत (अचरी) बड़े उमंग से गाई जाती है। भिण्ड में लोकगीतों का दायरा (फलक) बहुत बड़ा है। संस्कार गीत के अन्तर्गत सोअर, चरूआ, अन्न प्राशन, जनेऊ मुण्डन रतजता, सेहराभाव, द्वाराचार, ज्योनार, कुंअर कलेवा, पलकाचार, विवाह इत्यादि लोकगीतों की लम्बी सूची है। इन गीतों में जिले की सम्पूर्ण संस्कृति समाहित है। संक्षेप में भारतीय संस्कृति हिन्दु धर्म का लघुरूप है।

सन्दर्भ

1. बाल्मीकि रामायण किश्किन्धाकाण्ड पृ.43 / 50
2. महाभारत, सभापर्व, राजा सूर्यारम्भ पर्व पृ.14 / 26,27,28
3. ब्राह्मम् पांचाल कौरवेयास्तु धर्मम सत्यं मत्स्या, शूरसेनाश्च यज्ञम् महाभारत पृ.34 / 140
4. भागवत पुराण दशम स्कन्द में वर्णित
5. मनुस्मृति पृ.2 / 20
6. भदावर का इतिहास–डॉ. शिवशंकर कटारे पृ. 23
7. भिण्ड जिले का सांस्कृतिक सर्वेक्षण–डॉ. (श्रीमती) आदर्श मिश्रा के शोधग्रन्थ से उद्धृत पृ.68
8. बुन्देलखण्ड का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन–डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला पृ.78
9. भिण्ड जिले का भूगोल–श्री महेश भटनागर म.प्र. पाठ्य पुस्तक निगम भोपाल पृ.15
10. डॉ. ममता शर्मा के आलेखानुसार, फनकार–काजी तनवीर अभिनन्दन ग्रन्थ पृ.124
11. जिला सांख्यिकी पुस्तिका, अधीक्षक भू–अभिलेख, भिण्ड पृ.78
12. भदावरी बोली का भाशा वैज्ञानिक अध्ययन–डॉ. श्यामसुन्दर सौनकिया पृ.78
13. डॉ. कृष्णलाल हंस के शोधपत्रानुसार
14. दैनिक उद्‌गार भिण्डः भिण्ड जिला विकास विशेशांक 1993–त्रियुगीनारायण शर्मा पृ.38

45 चंबल के आसपास–डॉ. कालीचरण स्नेही पृ.54

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दलित राजनीति का विकास

बृजेश मौर्य *

भारतीय इतिहास में दलित राजनीति का विकास एक क्रमिक परिवर्तन की प्रमुख घटना रही है। जिनका प्रस्फूटन प्राचीन काल से प्रारम्भ होकर मध्यकालीन भारत एवं औपनिवेशिक शासन के दौरान संगठित रूप में क्षैतिज धरातल पर प्रकट होता है। जिसका प्रमुख स्थल 'बंगाल' था जहाँ से दलित राजनीति के विकास भारत के अन्य प्रदेशों महाराश्ट्र से लेकर केरल और अन्य प्रांतों में फैला था। भारतीय राजनीति में दलित राजनीति का उत्कर्ष 'पूना पैक्ट' 1932 ई. से माना जाता है जिसमें 'महात्मा गाँधी और डॉ. अम्बेडकर की अग्रणी भूमिका थी। इस पैक्ट में 'हरिजनों' के लिए प्रांतीय विधान सभाओं में आरक्षण प्रदान किया गया जिसको भारत परिषद अधिनियम, 1935 के माध्यम से कानूनी रूप प्रदान कर दिया गया। स्वतंत्रता से पूर्व एवं बाद भारतीय दलित राजनीति का नेतृत्व प्रमुख रूप से डॉ. वी.आर. अम्बेडकर एवं जगजीवन राम के द्वारा किया गया। इनके प्रयासों के कारण ही भारतीय राजनीति में दलितों को अग्रिम मुकाम हासिल हुआ, जिसका प्रतिफल दलित समाज में जागृत हुई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप में देखा जा सकता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय सरकार का गठन हुआ और भारतीय संविधान के निर्माता डॉ. वी.आर. अम्बेडकर को भारत का प्रथम 'विधिमंत्री' (कानून मंत्री) बनाया गया। बाबा साहब के महापरिनिर्माण के बाद भारतीय राजनीति में कोई क्रांतिकारी विकास नहीं हुआ। हालांकि उनकी जगह को भरने के लिए भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस पार्टी के द्वारा ''जगजीवन राम'' को 'दलितों' का नेतृत्व प्रदान करने के लिए आगे लाया गया। जिसका नेतृत्व काँग्रेस ने किया।[1] 1970 के दशक में बाबू जगजीवन राम के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और उन्होंने दलित राजनीति में 'बाबा साहेब की प्रासंगिकता को महसूस किया। 1981 में जगजीवन राम की पुस्तक 'भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या' के माध्यम से दलित स्थिति को साधने का प्रयास किया। किन्तु वे दलित राजनीति को नयी क्रांतिकारी दिशा देने में असफल रहे।

1960 का दशक दलित राजनीति के लिए महत्वपूर्ण रहा है, इस समय भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख घटनाएँ घटीं। इस दशक की सबसे महत्वपूर्ण घटना 'नक्सलवाद' के रूप में उभरी, जिसे रेडिकल वामपंथ के नाम से जाना जाता है। जिसने भू–स्वामियों एवं सामंतों को जड़ से उखाड़ फेंकने का कार्य किया। यह आन्दोलन सीधे–सीधे दलितों से नहीं जुड़ा था, वल्कि भूमिहीन दलितों के संघर्ष को इसने नयी शक्ति प्रदान की। धीरे–धीरे इसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा आदि आदिवासी बहुल क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमा लीं। इस आन्दोलन को सवर्ण एवं व्यवस्थावादी विचारकों 'नक्सलवाद' का नाम दिया। जबकि वास्तव में इनका उदय भू–सामंतों के प्रतिरोध स्वरूप हुआ था। इस दशक दूसरी घटना भारतीय राजनीति में 'रिपब्लिकन पार्टी' का उदय हुआ। जिसने महाराष्ट्र से लेकर दिल्ली एवं समूचे उत्तर भारत में दलितों, अति पिदड़ों एवं अल्पसंख्यक समुदायों तक अपना जनाधार बनाया। 1960 में उसने महाराश्ट्र की विशाल भूमि पर 'भू–आन्दोलन' चलाया जिससे बाध्य होकर महाराष्ट्र सरकार को एक लाख एकड़ भूमि दलित भूमिहीनों को देना पड़ा। सन् 1964 ई. में पूरे भारत में विशेष रूप से उत्तर भारत में रिपब्लिकन पार्टी द्वारा भू आन्दोलन दो महीने तक चलाया गया।[2] केन्द्र सरकार ने बाध्य होकर आदेश दिया कि 'सभी राज्यों में बेकार पड़ी भूमि को 'दलितों' किसानों में बाँट दी जाय। 1962 के आम चुनावों में उत्तर प्रदेश की

* शोध छात्र, (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

विधानसभा से ग्यारह तथा लोक सभा से चार सदस्य रिपब्लिकन पार्टी के चुने गये। इस दशक की तीसरी प्रमुख घटना 1969 ई. में काँग्रेस पार्टी में इन्दिरा गाँधी का जवरदस्त विरोध हुआ और यह पार्टी दो धड़ों (इण्डीकेट और सेंडीकेट) में विभाजित हो गई। इस मौके का लाभ उठाकर इन्दिरा गाँधी ने जगजीवन राम को काँग्रेस का अध्यक्ष बना दिया। दलित राजनीति में यह घटना महत्वपूर्ण सिद्ध हुई और अब समस्त दलितों का झुकाव काँग्रेस की तरफ हो गया। यही वह समय था जब दलित वर्ग काँग्रेस से जुड़ गया। बाबू जगजीवन राम ने दलितों को काँग्रेस का वोट बैंक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।[3]

भारतीय राजनीति में सत्तर का दशक महत्वपूर्ण राजनैतिक आन्दोलनों के लिए जाना जाता है। इस दशक में दलित राजनीति का कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ। पर आम चुनावों में जगजीवन राम वाली काँग्रेस को देश भर से अपार जन समर्थन मिला और 1972 में इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में सरकार बनी। इन्दिरा गाँधी ने 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया था। इसी समय बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दलितों एवं गरीबों के विकास में बैंकों की भागीदारी तय की गयी। 1976 में जगजीवन राम के काँग्रेस से अलग हो गये और 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी जिसमें लगभग पूरे विपक्ष की भागीदारी थी।[4] इसी समय जे.पी. (जयप्रकाश नारायण) के नेतृत्व में उभरा संपूर्ण क्रान्ति का अभियान 'राजनैतिक रूप से दलित राजनीति का वाहक न बन सका।

भारतीय राजनीति में अस्सी का दशक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। वास्तव में 'दलित विमर्ष का उदय' इसी काल में हुआ। 1980 में कांशीराम साहेब के नेतृत्व में 'वामसेफ' (बैकवर्ड एण्ड काइनारिटीज शेड्यूल्ड कास्ट इम्प्लाइज फेडरेशन) का गठन किया और दलित राजनीति को नये सिरे से लामवन्द करना शुरू किया। चूंकि रिपब्लिकन पार्टी में रहकर उन्हें स्वयं संगठन को तैयार करने का काम किया था। इसका प्रतिफल 1978 में मिला, जब उन्होंने 'वामसेफ' (दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक) समुदाय के लिए कर्मचारियों का फेडरेशन खड़ा किया।

सन् 1981 में कांशीराम जी ने डी.एस.–4 (दलित समाज शोशित संघर्श समिति) की स्थापना की, यह आन्दोलन दलितों के लिए 'एक प्लेटफार्म' सिद्ध हुआ। जो आगे चलकर राजनैतिक संगठन का रूप धारण कर लिया। 'समता और सम्मान' के नारे के साथ डी.एस.–4 ने पूरे भारत यथा काश्मीर से कन्याकुमारी और अरूणांचल प्रदेश से लेकर गुजरात के पोरबन्दर तक से अखिल भारतीय मार्च शुरू किया। इस यात्रा में लगभग 3–4 लाख लोगों ने भाग लिया और इसका समापन दिल्ली में हुआ। इसी समय 'पूना पैक्ट' के 50 वर्ष पूरा होने के उपलक्ष्य में 1882 ई. में कांशीराम जी के नेतृत्व में 'राजनीतिक धिक्कार रैली' निकाली जिसका दलितों पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उन्होंने कांशीराम का नेतृत्व स्वीकार कर लिया।[5]

1982 ई. में कांशीराम के द्वारा डी.एस.–4 को हरियाणा के चुनाव में उतारा गया। यह राजनीतिक प्रयोग काफी सफल रहा और उसने कुल मतों का 1.19 प्रतिशत मत प्राप्त किया, उसी प्रकार काश्मीर के चुनावों में भी हुआ, यहाँ पर भी प्रतिफल अच्छा मिला। डी.एस.–4 की राजनीतिक परिणामों से उत्साहित होकर कांशीराम ने 1984 ई. में 'बहुजन समाज पार्टी' की स्थापना की। इसी वर्श होने वाले लोकसभा चुनावों बहुजन समाज पार्टी ने भाग लिया और 10 लाख से अधिक वोट मिला। उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनाव में लगभग 7 लाख वोट प्राप्त किया यद्यपि कोई प्रत्याशी नहीं जीत सका। विजनौर (लोकसभा) उपचुनाव में 1985 में हुआ जिसमें बसपा की उम्मीदवार मायावती ने जगजीवन राम की पुत्री मीरा कुमार से सिर्फ 5000 वोट कम प्राप्त किया। पंजाब विधानसभा चुनाव में बसपा को अच्छा प्रतिफल मिला। 1988 ई.

में कांशीराम असमता, अन्याय, असुरक्षा और अस्पृश्यता के विरूद्ध सामाजिक आन्दोलन चलाया। सन् 1990 ई. में पूरे देश में सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति का आन्दोलन चलाया।[6]

भारतीय राजनीति में अस्सी का दशक कांशीराम के 'दलित विमर्श' को याद किया जायेगा, क्योंकि भारतीय राजनीति में सामाजिक परिवर्तन का श्रेय उन्हीं को जाता है। उनके ही प्रयासों से 1987 से 90 तक की अवधि में 'मण्डल आयोग' की सिफारिशों को लागू करवाने के लिए आन्दोलन चलाया। जिसमें दलितों के साथ पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को अपनी राजनैतिक ताकत का एहसास कराया।

भारतीय राजनीति में नब्बे का दशक 'सामाजिक न्याय और परिवर्तन' का काल था जिसमें 'मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू हुई और दलित तथा पिछड़ी जातियों को शासन–प्रशासन में भागीदारी हासिल हुई। इस दशक का 'हिन्दुत्व आन्दोलन' का दशक कहा जा सकता है जिसमें 'बाबरी मस्जिद' को तोड़ा गया जिसके कारण सारे देश में सामाजिक सद्भाव बिगड़ा। इस दशक में दो बड़ी राजनीतिक महत्व की घटनाएँ घटीं।

1. सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर 'सामाजिक न्याय' की राजनीति अस्तित्व में आयी।
2. वर्ष 1982 से निर्णय के लिए लम्बित 'मण्डल' आयोग की सिफारिशें लागू करने की घोषणा।

इस समय बसपा की राजनीति का दौर उत्तर प्रदेश में वृहद पैमाने पर पहुँच चुका था। जून, 1992 में नया मोड़ आया, जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने 'दलित राष्ट्रपति का मुद्दा उठाया। उन्होंने अपने प्रधानमंत्री मंत्रित्व काल में 'डॉ. अम्बेडकर को 'भारत रत्न' के अलंकरण से सुशोभित किया और 'मण्डल' रिपोर्ट को लागू करने की घोषणा करें, भारतीय राजनीतिक इतिहास का इतिहास बदल दिया। सितम्बर–अक्टूबर 1992, में हिन्दू कट्टरवाद के कारण भारतीय सद्भाव का सामाजिक वातावरण दूषित हो गया था। नम्वम्बर, 1992 में बसपा और जनता दल ने 'मण्डल–महासम्मेलन' का आयोजन कर दिल्ली सरकार को चेतावनी दी गयी कि यदि 26 जनवरी, 1993 तक मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू नहीं किया, तब उसके विरूद्ध संघर्ष किया जायेगा जिसका स्तर देश–व्यापी होगा।[7] इस मण्डल महासम्मेलन ने भाजपा और संघ परिवार को प्रतिक्रांति का निर्णायक भूमिका में खड़ा कर दिया।

भारतीय राजनीति में अनेक देशव्यापी राजनीतिक घटनाओं के बाद भी दलितों का सामाजिक आन्दोलन चलता रहा। इस बीच राजनीति में नया मोड़ आया जब मायावती ने अपनी राजनीतिक महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के भाजपा से गठजोड़ कर उत्तर प्रदेश की पहली दलित महिला मुख्यमंत्री बनी। सत्ता के लालच में बसपा बाबा साहब और कांशीराम के सिद्धान्तों को तिलांजली देकर ब्राह्मणवाद से समझौता कर लिया। जिसके विरूद्ध लम्बा संघर्श किया था। यह बसपा के साथ सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन का भी पतन हो गया। इसके बाद बसपा गिरती चली गयी और अब उसका स्तर भाजपा को जिताने वाली पार्टी मात्र बनकर रह गया। सपा–बसपा की 18 महीने की क्रान्तिकारी सरकार के बाद जून, 1995 में मायावती की जो ताजपोशी हुई थी, के सिद्धान्तों के विपरीत चली गयी। उसने अम्बेडकरवाद और मनुवाद का ऐसा गठजोड़ कर लिया जिसकी भारी कीमत दलित आन्दोलन को इस रूप में चुकानी पड़ी कि ब्राह्मणवाद पुनः विजयी मुद्दा में स्थापित हो गया और 1932 के पूना पैक्ट के बाद दलित अपनी मुक्ति की जीती हुई जंग फिर हार गये।[8]

भारतीय राजनीतिक इतिहास में बहुजन समाजपार्टी की स्थापना करने वाले और दलितों के मसीहा कांशीराम की लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर, 2006 को 74 वर्श की उम्र में निधन हो गया। बाबा साहब के

बाद वे दलितों के सबसे बड़े मसीहा थे, कांशीराम के राजनीति का दर्शन था ''सत्ता के भीतर सभी चाभियों की चाभी निहित है।[9] कांशीराम के न हरने से गैर–बराबरी मिटाने के आन्दोलन को बहुत आघात पहुँचा। कांशीराम साहब के बाद दलित आन्दोलन की जिम्मेदारी पूर्व मुख्यमंत्री सुश्री मायावती पर आ पड़ी। ऐसी स्थिति में दलितों के सामाजिक आन्दोलन को कितना आगे बढ़ायेगी, यह विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि वर्तमान राजनीति में दलितों को नया नेतृत्व प्रदान करने वाला कोई नहीं दिखलायी पड़ता है, जिस काम को डॉ. अम्बेडकर साहेब के बाद कांशीराम जी ने किया था। अन्ततः ऐसी स्थिति में दलित आन्दोलन के सामाजिक विकास और गैर–बराबरी की लड़ाई लड़ने की संपूर्ण जिम्मेदारी दलित समाज पर आ गयी है।

सन्दर्भ

1. कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ–81
2. वही, पृष्ठ–84
3. वही, पृष्ठ–85
4. वही, पृष्ठ–13
5. वही, पृष्ठ–89
6. वही, पृष्ठ–89–90
7. बहुजन हुंकार–बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ, 1983, पृष्ठ–3
8. कंवल भारती, पूर्वोक्त, पृष्ठ 101
9. सुधीर गोयल, बसपा महासचिव का लेख : अम्बेडकर के बाद दलितों के सबसे बड़े मसीहा, अमर उजाला, वाराणसी, 10 अक्टूबर, 2006, पृष्ठ–14

सन्त मत सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

डॉ0 निशा वालिया *

संत साहित्य का उदय बड़े ही कोलाहल पूर्ण वातावरण में हुआ था। भारतीय इतिहास का यह संक्रान्ति काल दो संस्कृतियों के संघर्षमय मिलन की करुण गाथा है। यह रक्त की प्यासी तलवार के समक्ष सीना तानकर खड़े हो जाने और अपने धर्म की रक्षा में जुट जाने के अद्‌भुत साहस का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करने वाला युग है। कबीर, नामदेव, रैदास, सैन आदि नीच जाति के संतों ने आध्यात्मिक जगत में ऊँचे उठकर अपने आपको लोगों की श्रद्धा का भाजन बना लिया। जिस जाति–प्रथा को चुनौती देकर भगवान बुद्ध ने एक महान आंदोलन का श्रीगणेश किया। संतों ने समाज में इस नयी विचारधारा के चरम पर पहुँचा दिया। कबीर का कहना है कि रैदास जाति के चमार थे लेकिन सबसे बड़े संत हो गए। कबीर ने जाति पाँति की निस्सारता को स्पश्ट शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया–

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साथ ब्राह्मन, साथे छतरी, बनियाँ।

जाति का अहंकार व्यर्थ है। दादू स्वयं कहते हैं–

अलहू राम छूटा भ्रम मेरा
हिन्दी तुरक भेद नाहीं देखों दरसन–तीरा

संतों ने पहले से ही यह स्वीकार किया कि ब्रह्म साधना के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं इसीलिए कबीर कहते हैं–

मनु करि पका किवला करिदेही
बोलन छारू परम गुरु एही

समाज की शृंखला को संत तोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों और प्रचलित अन्यायों के विरुद्ध आवाज बुलन्द कर समाज में एकता का सन्देश देने का प्रसार किया। उनका कहना था कि वो समाज को विशृंखल नहीं करना चाहते क्योंकि सनातन नियमों के बिना समाज नहीं चल सकता। इसीलिए संत युगधर्म का पालन आवश्यक मानते हैं क्योंकि संतों की दृष्टि एकांगी नहीं सर्वांगीण है– सामाजिक नियमों का उपहास करने वाला सरभंगी नहीं हो सकता–

पलटू बाहर कुल धरम, भीतर राखे एक।
सरबंगी जो नाम के रहनी सहित बिबेक। (पलटू)

यही कारण है कि संत सत्संग को सांसारिक दुखों से युक्ति का साधन मानते हैं जैसा कि बुल्लाशाह का कहना है–

बैठो जाइ संत सभा में जहाँ अमरपुर लोग।
आवागवान कबहुँ नहिं (है है) हमारा जोग।।

मानव समाज के बीच संत की उपस्थिति प्रभु की बहुत बड़ी देन है। समाज को दिशा देने एवं नये भाव लोक से जोड़ने के लिए ईश्वरीय वरदान के रूप में संत धरा पर प्रकट होते है। मानव सभ्यता व

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून

संस्कृति को विकसित करने के लिए ही संत के रूप में प्रभु स्वयं अवतरित होते हैं।

स्वयं दुःख सहकर समाज के लिए सुख सर्जना करने वाले संत के ज्ञान की किरणें जब पड़ती हैं तो कुबुद्धि का अन्धकार स्वतः नश्ट हो जाता है। संतों की अमृत वाणी में सामाजिक अवगाहन कर अमरता को प्राप्त करते हैं–

सब अमृत बातों की बात। अमृत है संतन के साथ। (बुल्ला)

संत मत में सामाजिक पृष्ठभूमि किस प्रकार पैठ जमाती है। इस पर विचार करना आवश्यक है– संत जिस जीवन को महत्व देते हैं वह आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाने वाला है। सन्तों की दृष्टि लोक पलायन की कभी नहीं रही। उन्होंने समाज का त्याग नहीं किया न समाज की समस्याओं से अपनी आँखें मूँदी। सन्तों ने सदा ही भेद मूलक, ऊँच–नीच भावना से आक्रान्त तथा मानविधि मूल्यों से अलग समाज की खरी आलोचना की।

सन्तों की भावना मात्र इतनी नहीं थी कि–

जाति पाँति पूछे नहीं कोई
हरि का भजै सो हरिं का होई।

सन्त समाज में फैली हुई कुप्रथाओं के प्रबल विरोधी थे और उन्होंने कुप्रथाओं का खंडन भी किया। संतों ने समाज की सहज व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत कर व्यक्ति के विकास के मार्ग को साधनात्मक जीवन यात्रा ने परिणत् किया। समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों को रूढ़ियों से मुक्त कर मानवीय तत्व से समन्वित किया। सन्त मतों की समस्त भावभूमि और उपलब्धि सामाजिक भावों पर ही आधारित है। सन्तों ने समाज में अपने मतों को स्थापित करने के लिए हिन्दू समाज में जाति पाँति का, मुसलमानों में शिया और सुन्नी का विरोध करके, उनके सामाजिक बाह्यचारों का विरोध किया है। सन्तों ने अपने साहित्य में 'लोक–धर्मी' की भावना पर बल दिया। सन्तों का लोकधर्म मानव धर्म का पर्याय है। उन्होंने अपने समय में प्रचलित लोकाचारों और कुप्रवृत्तियों की आलोचना स्पश्ट तथा रोचक ढंग से की है। जो साधु सन्यासी अपने पाखण्ड से जनता को ठगते थे उन्हें बहुरुपिया, धूर्त स्वाँगी तक कहा है–

जे तू समझे तो कहीं साया ऐक अलेख।
डाल पात तजि मूल गहि क्या दिखलावे भेष।। (संत दादू)

सन्तों ने समाज में बनावटी वेषभूषा धारण करने वाले अनेक लोगों का खंडन किया है। इसके पश्चात् सन्तों ने मुनष्य की कथनी और करनी में अन्तर न मानकर उसके अनुभव ज्ञान का समर्थन किया है। उन्होंने खलजनों का विरोध करके, सज्जनों की प्रशंसा तथा मानव के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। इसी से मानव उच्च और नीच माना जाता है। अन्त में सन्तों ने मानव समाज सुधार की प्रेरक प्रवृत्तियों में सारग्रहिता, सत्यनिष्ठा लोकमंगल की कामना, उपदेश की प्रवृत्ति तथा क्रान्ति की भावना का वर्णन किया है। इसीलिए सन्तों को समाज सुधारक कहा गया है। सन्तों ने इसी मानव समाज को मंगल कामना के लिए उपदेश दिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत मत अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ उसे विकास का, प्रगति का एक संदेश देता हुआ चलता है। संतों की स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति एवं निर्भीक अभिव्यक्तियाँ उनके साहित्य को प्रभावशाली बनाने में सक्षम है। संत साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि में पशु–पक्षी, कीट–पतंगों का प्रयोग अपनी बानियों, उलटबाँसियों में प्रतीकों के रूप में प्रयोग किया है। संत मत में उनकी बानियाँ लौकिक धरातल पर सामान्य प्रतीत होती है। लेकिन आन्तरिक रूप से प्रतीकार्थ स्पष्ट हो जाने पर उनसे एक नूतन गूढ़ार्थ की चमत्कारिक अभिव्यंजना होती है।

अजल मीन सदार है जल मैं सुकर सदा मलीना।
आतप ग्यांन दिया बिणि कछु नाहीं कहा भयौ तन शीणा।।

संत साहित्य में दैनन्दिन जीवन में अधिकतर प्रयुक्त होने वाले सभी वस्तुओं का उल्लेख है। 'दीपक', 'तेल', 'कली', 'फूल', 'धूप छाँह' का प्रतीकात्मक योग हुआ है–

ता दीपक कै डाल न मूल। ता दीपक कै कली न फूल।।
ता दीपक कै रंग न रूप। ता दीपक के छाँह न धूप।।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि – सन्तों का मुख्य उद्देश्य 'जीओ और जीने दो' रहा है। प्रारम्भ से ही सन्तों के समन्वय की भावना पर बल दिया।

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद् दुःखमायुयाता।। '

सन्तों के अनुसार विश्वबन्धुत्व की भावना सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को नया आकार प्रदान करने वाली है। भारतीय अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। संसार के सभी प्राणियों में इसी ब्रह्म तत्व को देखने की दृष्टि विश्वबन्धुत्व को जन्म देती है।

मुसलमानों के समय सारे देश में सत्ता विक्रेन्द्रित थी। ऐसी कोई भी सत्ता नहीं थी जो भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की रक्षा कर पाती। इसी वजह से भारतीय संस्कृति की ठोस शक्ति का प्रवाह मन्द गति से हो रहा था। मुसलमान बादशाह अपनी शानशौकत को बढ़ावा दे रहे थे जिससे निम्न वर्ग आतंकित था। मानव मानव से दूर हो गया था। ऐसे समय में दार्शनिकों, पंडितों और धर्माचायों के धरातल के नीचे, जनता के स्वर पर जो चेतना झंकृत हुई उससे हिन्दु एवं मुस्लिम सन्तों ने समन्वय पर बल देकर जाति और धर्म के क्षेत्र में एकता का सन्देश दे लोगों के हृदय का मंथन करने का अभूतपूर्व प्रयास किया। संतो ंके सांस्कृतिक अभ्युथान से समाज, साहित्य तथा धर्म धीरे–धीरे नवीन दिशा को ग्रहण करने लगे।

सन्त साहित्य में सन्तों ने राम, रहीम, करीम, खुदा आदि में से किसी भी विशेष शब्द के गुणों से सीमित न होकर सभी को राष्ट्र परमतत्व का संकेत माना। संतों, सिद्धों एवं नाथों की बानियाँ हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

वेदे न सास्त्रे, कतेबे न कुरांणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दूनी सब धंधे लाई।।

वेदों, शास्त्रों धर्मों की किताबों, कुरान आदि ग्रन्थ में जिस पर ब्रह्मपद का वर्णन नहीं पढ़ा जा सकता, उस पद को बिरले योगी जानते हैं। बाकी दुनिया तो माया में लिप्त होकर धंधों में भी लगी रहती है।

मुसलमान और हिन्दू भी इस बात का विरोध नहीं कर सकते। इस परम तत्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन ज्ञान और प्रेम है। संतों का ज्ञानशास्त्र–चिन्तन या तर्क से प्राप्त वस्तु नहीं है। वह तो केवल सहज–अनुभूति एवं आत्म–साक्षात्कार रूप है। गोरखनाथ की सहज–अनुभूति, सहज ज्ञान, शास्त्र ज्ञान के अहंकारों से सर्वथा मुक्त है–

सहज सहज सब कोई कहै। सहज न चीन्है कोई।
पाँचों राशै परसती सहज कहीजै सोई।। (कबीर)

प्रेम का उल्लेख भी सन्त साहित्य में स्थान–स्थान पर परिलक्षित होता है। प्रेम भी ऐसा जो सहज है। अपना सर्वस्व अर्पित करने के पश्चात् भी सहजता से ईश्वर के निकट पहुँच जाता है–

जिन सहजै विशिया तजि सहज कहीजै सोई।
जिन सहजै हरिजी मिलै सहज कहीसै सोई।। (कबीर)

इस प्रकार सन्त साहित्य अन्तर्विरोधों से मुक्त ज्ञान और प्रेम की समन्वय–शिला पर आधारित है। सन्तों ने हठ योग आदि अन्य साधनाओं की उपयोगिता भी चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान, भक्ति और प्रेम के लिए ही मानी है।

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं दसों वायु वश में हो जाते हैं। योग के अनेक भेदों का उल्लेख संत साहित्य में मिलता है।

पूरब देश पछांही घाटी (जनम) लिश्या हमारा जोगं।
गुरु हमारा नांवगर कहीए, मेरै भरम बिरोगं।

सन्तों ने अपने साहित्य में प्रत्येक मानव की मूलतः समानता और एकता में दृढ़ विश्वास जाग्रत करने का प्रयास किया। उन्हें वर्गगत् या जन्मजात ऊँचनीच की भावना से तीव्र घृणा है। तप, व्रत, सन्धया, नमाज आदि को सन्तों ने नैतिकता के नहीं अपितु वर्गगत् अहंकार की पुश्टि का साधन माना है।

जात न पूछो संत की पूछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।

गोरखनाथ एक सन्त थे। भक्ति, प्रेम, सदाचरण द्वारा वह ईश्वरीय सत्ता को पाने का सन्देश जन–जन को देते हैं।

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा। बांध्या मेल्हा तौ जगन्न चेला।
बंदत गोरश सति सरूप। तत विचारैं ते रेश न रूप।।

'विश्वबन्धुत्व की भावना' की छाप सन्त साहित्य में स्पश्ट लक्षित होती है। सभी सन्त प्रत्येक प्राणी में ऐसी भावना का उदय देखना चाहते थे, जिसमें सबका दिन हो। ऐसी कल्याणकारी भावना के विकास के लिए 'विश्वबन्धुत्व' एक अनिवार्य गुण है। अद्वैतवादी दर्शन से साम्य रखने वाले सन्तों के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। सम्पूर्ण संसार परमात्मा का रूप है–

दरपन मांही आपा प्रगट्या, लशै तौं दूर न जाई।
आपा मांही आपा प्रगट्या, लशै तौं दूर न जाई।।

सन्तों में अनुसार उस पारलौकिक ज्योति से पूर्ण सभी आत्माएँ समान हैं, इसीलिए प्रत्येक प्राणी को वैशम्य को त्याग 'विश्वबन्धुत्व की भावना' से रहना चाहिए।

सन्तों ने 'अध्यात्म तत्व' को अति महत्वपूर्ण माना है। संत अध्यात्म विधाका व्यवहार सिद्ध रूप है। आधिदैविक तथा आधिभौतिक शक्ति पर अधिष्ठित हुए बिना भौतिक यथार्थता की परिपूर्णता सम्भव नहीं है। मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है। इसी ऋतु एवं सत्य की भावना को स्पष्ट और व्यापक रूप में अध्यात्म–तत्व में भी देख सकते हैं। गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्रकार मौलाराम ने गढ़वाल की अध्यात्मिक विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए मनमथ पंथ की नींव डाली। इसी पंथ के अनुसार आदि शक्ति ही सर्वोपरि और सृष्टि का मूल है–

आदि शक्ति रचना रची या विश्व माहि।
मनोमयी के ध्यान धरयौ मनजत हुलासा है। (योगप्रवाह 198)

सन्तों की किसी परलोक जैसे काल्पनिक प्रदेश में आस्था नहीं थी। ये इहलोक को ही आदर्श व्यक्तियों के प्रभाव द्वारा स्वर्ग बना दिए जाने में विश्वास रखते थे। इनका आध्यात्मिक चित्रण किसी प्रचलित धर्म या सम्प्रदाय का अनुसरण नहीं था न किसी नवीन पंथ के प्रचार की कोई बुनियाद ही थी। ये लोग नैतिक नियमों के पालन की ओर विशेष ध्यान देते थे और पाखण्ड, कपट, बाग्जाल और अत्याचार के विरोधी थे। इनकी क्रान्ति बाहरी विप्लव न होकर अन्तर्मुखी थी और मानवीय हृदय से ही सम्बद्ध थी। इसके लिए उन्होंने स्वानुभूति से ही आध्यात्मिक विचारधारा को प्रस्तुत किया।"

उक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि यह अध्यात्म हमें भोग से दूर ईश्वर–विषयक ज्ञान की ओर उन्मुख करता है। सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय है–

आकास तत सदा– सिव जांण। तसि अभिअंतरिपद निरबांण।
प्यंडे पश्चांनै गुरमुशि जोइ। बाहुडि आबा गवन न होई।।

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को संत गोरखनाथ ने भी स्वीकार किया है।

ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना ही 'आस्तिकता' है। ईश्वर सर्वव्यापक है यह स्वीकार करने पर अर्थात् पाँचों तत्वों पर एक महान शक्ति का शासन है। फिर भी मानव पाप करने के लिए जो एकान्त चाहता है, उसका तो नितान्त अभाव है, इसलिए आत्मिक उन्नति के लिए ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर ही आत्मा में शक्ति का आविर्भाव होगा, इसी का उल्लेख गोरखबाणी में भी हुआ है–

इला प्यंगुला सुशमनां नाड़ी। छुटै भ्रंम मिलै बनवारी।
पंच तत्त विश अंमृत बसाई। गुरुबचने अंमृत भया अंचाई।।

मंगलाचार गानों की परम्परा भी वैदिक काल से ही रही है–

नाथ निरंजन आरती गाऊं। गुरुदयाल अग्यां जो पाऊँ
जहाँ अनंत सिधां मिलि आरती गई। तहाँ जय की बाच न नैड़ी आई।

लोकमंगल एवं जनहित की भावना सन्त साहित्य के सदैव से अत्यन्त प्रबल रही है। लोक कल्याण के लिए सभी जीवों पर दया करना, सभी प्राणियों को अपने से भिन्न न समझना तथा सभी के दुःख में समान रूप से भागीदार बनना होता है और इस प्रकार की विचारधारा सभी सन्तों में पायी जाती है। भारतीय दर्शन में यह लोक कल्याण की भावना प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस चिन्तन में 'आत्मवत् सर्वभूतेशु यः पश्यति सः पण्डितः' की भावना सदैव विद्यमान रही है।

सदैव से सन्त लोक–हित को देखते दुष्ट विचार वाले लोगों के संग का त्याग करने के लिए उपदेश देते हैं–

साधु मिले तब उपजे हिरदे हरि का हेत।
'दादू' संगति साधु की कृपा करे तब देत।।

लोक–कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही सन्त ईश्वरीय रचना को सृश्टा की सृश्टि बताते हैं।

एक मैं अनंत अनंत मैं एकै, एकै अनंत उपाया।
अंतरि एक सौ परचां हूवा, तब अनंत एक मैं समाया।।

अतः जब सबका सृष्टा एक है तो फिर भिन्न–भिन्न धर्म, सम्प्रदायों के सम्बन्ध का क्या प्रयोजन? एक ही ब्रह्म को सर्वत्र और सबमें वर्तमान मानकर लोक–कल्याण के प्रति सजग रहना चाहिए। सन्तों ने इसी लोक–हित वेद, पुराण तथा कुरान आदि को गौण मान कर हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान भाव से खड़े होने की भावभूमि तैयार की– हम तो एक–एक करि जाना।

दोइ कहै तिनही को दौ जग जिन नाहिंन पहिचाना।
एक ही साथ धड़े सब भाड़े, एक ही सिरजन हार।।

'यम नियम' सन्त साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आधार भूत तत्व है। इन यम–नियमों के पालन से मनुश्य का शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है। सन्तों की अभिरूचि हठयोग के प्रति अवश्य रही होगी, किन्तु यम–नियम के प्रति उन्होंने उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया है। विविध आसन, बन्ध, भुजंग (कुण्डलिनी) तथा शारीरिक शुचिता विषयक प्रक्रियाओं से शरीरभिमुखना बनी रहती है–

शोडस नाड़ी चंद्र प्रकास्या, द्वादस नाड़ी मांन
सहस्र नाड़ी प्रांण का मेला, जहाँ असंश कला सिव थानं।।

अवधू ईडा मारग चंद्र भणीजै, प्युंगला मारग भांमं
सुशमनां मारग बाणी बोलिये, त्रिय मूल अस्थांनं।

प्राणायाम से पूर्व शटकर्म–विधान भी कुछ सन्त स्वीकार नहीं करते–

सन्त प्राणायाम की महत्ता और प्राण वायु को गगन तक पहुँचाने की बात करते हैं–

साथ ही अधिकांश सन्त पंचतत्व और पच्चीस प्रकृतियों की मूल एक मात्र पवन ही है–

आप तेज धरणी आकासा। सकल पसारा पौन की साथा।।
पौने आव पौने जाय। पौन नाद धुनि गरजत रहै।

सभी यम–नियमों का विस्तृत वर्णन गोरखनाथ संत के काव्य में दिखायी देता है।

अहरणि नाद नैं ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि शालां पवनं।
मूल चापि डिढ आसणि बैठा तब मिटि गया आवगवनं।। (गोरखबाणी पृ.71)

उपरोक्त सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त कुछ आधार भूत तत्व भी सन्तों के साहित्य में लक्षित होते हैं। "जीवन कर्ममय है, अतः कर्म करते हुए ही जीवन व्यतीत हो यह वैदिक सिद्धान्त है अर्थात् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना" कर्मयोग के अतिरिक्त जीवन–साफल्य का अन्य कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। इस प्राचीन कर्मवादी विचार–परम्परा को संतों ने भी स्वीकार किया है। कर्म के बंधन में बँधा हुआ मनुश्य जन्म मृत्यु के चक्र में फंसकर चक्कर काटता है और कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त करता है–

करमों के बस जीव है, करम रहित सो ब्रह्म।
जहं आतम तहँ परमात्मा, दादू भागा भर्म।।

सभी संत प्रत्येक मनुष्य को ऐसा आचरण (कर्म) करने के लिए प्रेरित करते दिखाई देते हैं, जिससे इस क्षण–भंगुर संसार से मुक्ति मिल जाए। इस प्रकार विराट ईश्वर का ध्यान लगाकर सांसारिकता से आत्मा को दूर ले जाकर ब्रह्म में लीन हो जाना चाहिए।

आसन दृढ़, अहार दृढ़, सुमति ज्ञान दृढ़ होय।
तुलसी बिना उपासन, बिनु दुल्हें की जोय।।

सन्तों का मानना है कि कर्मवादी सिद्धान्त जिसमें मानव कल्याण निहित हो वही श्रेष्ठ है।

आध्यात्मिक कर्म–विकास की क्रियान्विति के लिए पुनर्जन्म एक अपरिहार्य साधन है। मानव–जन्म एक ऐसी भूमिका है जहाँ जीवन पुनर्जन्मों की लम्बी सूची के बाद अवश्य पहुँचता है और इस अनुक्रम में उसे पृथ्वी पर निरन्तर प्राणियों के रूपों में से होकर गुजरना पड़ता है। यह पुनर्जन्म का व्यापार तब तक चलता रहता है। जब तक कि मनुष्य मृत्यु के बंधन से मुक्ति नहीं पा जाता और संसार को कुछ अर्थ नहीं दे लेता।"

कवल बदन काया करि कचंन चेतनि करौ जपमाली।
अनेक जनम नां पातिग छूट जपंत गोरश चवाली।।

सन्त साहित्य की सांस्कृतिक पृश्ठभूमि में 'त्यागभाव' भी एक विशेशता है। सभी सन्तों ने अपने साहित्य द्वारा मानव जीवन को श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए सांसारिक भोगों के त्याग का उपदेश दिया

चारि पहर आल्यांगन निद्रा, संसार जाई विशिया बाही।
बामा अंग्रे सोइबा जम चा भोगिबा, संगे न पिवणा पाणी।।

सन्तों का उद्देश्य सत्य का प्रचार करना भी रहा है। वह ईश्वर को सत्य मानते हैं तथा गुरु में ईश्वर के दर्शन करते थे। योगोपनिशद् में गुरु को तीनों लोकों में सर्वश्रेश्ठ माना है–

गुरु ब्रह्म गुरु र्विश्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
न गुरोरधिक कश्चित् त्रिशु लोकेशु विद्यते।

अध्यात्म–साधना में गुरु का महत्व सर्वोपरि बना रहा है। बौद्ध मत में चार आर्य सत्यों के समुचित ज्ञान के लिए गुरु की शरण में जाने का आदेश है। इसमें 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'संध शरणं गच्छामि' का दृढ़ निश्चय निहित है। महायन में बोधिसत्वों के रूप में गुरु साधना का महत्व मान्य है। नाथ पंथ में भी गुरु की महत्ता अक्षुण्ण है। गोरखबाणी में कई स्थानों पर गुरु की महत्ता वर्णित है।

चकमक ठरकैं अगनि झरै यूं, दध मथि घृतकरि लीया।
आजा मांही आपा प्रगटया, तब गुरु सन्देसा दीया।।

वास्तव में गुरु वह है जिसे आत्मज्ञान होता है सन्तों ने अपने साहित्य में गुरु पहचान के विविध मंत्र बताये हैं।

शब्द को सीखते शब्द को बूझले शब्द से शब्द पहिचान भाई।
शब्द ते ह्रदय बसे शब्द तो नयनो बसे शब्द की महिमा चारवेद गाई।।
उलटा पंथ संभालि पंथी सती सबद सतगुरु कहे

संत साहित्य में सभी संतों ने माया को ठगनी, व्यभिचारिणी और पापिनी तक कहा है–

जे लूटया जिनि शवरि न पाई, कसि करि चंद्री डांडी।
तन मन की कछु शवरि न पाई, सुरति बिगोया रांडी।।

लेकिन संतो के समीप माया फटकती तक नहीं क्योंकि उन्होंने तृश्णा पर विजय प्राप्त कर ली है।–

काम क्रोध बाली चूंनां कीधा, कंद्रप कीया कपूरं।
मन पवन दो काथ सुपारी उनमीनीं तिलक सीं दूरं।।

'नाम–स्मरण' मध्यकालीन संतों की सहज साधना का प्राणभूत तत्व है। जिसे सभी धर्मों ने सहर्ष स्वीकारा है। सांसारिक थपेड़ों से मुरझाए साधक के लिए शान्ति या आशा का एक मात्र अवलम्बन राम–नाम ही रह जाता है। संतों ने राम नाम को 'संजीवन बूटी' कहा है। राम नाम के बिना काम, क्रोध आदि बलयुक्त हो जाते हैं। जीव के करोड़ों तीर्थों पर स्नान कर लेने से शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रपंचात्मक संसार से पार उतरने का एक ही साधन है– राम नाम।

मूरश तन घर कहा कमायौं। रांम भजन बिन जनम गमायौ।
रांम भगति गत जांणी नाहीं। भंदू भूलौ धंधा माही।।

संतों के साहित्य में 'सत्संगति' का महत्त्व सर्वोपरि है। संत सानिध्य के अभाव में मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। सत्संग के अभाव में मनुष्य की बुद्धि पाषाण जैसी हो जाती है।

मूरिश सभा न बैसिबा अवधू पंडित सौं न करिब बादं।

संतों की संगति अन्य सांसारिक कार्यों को छोड़कर अविलम्ब स्वीकार्य होनी चाहिए–

बैठी जाई संत सभा में, जहाँ अमरपुर लोग।
आवागमन कबहूं नहीं (द्धै है) रहे हमारा जोग।।

वैचारिकता की पृष्ठभूमि में भी सभी संतों ने विचार को सब व्याधियों की एकमात्र औषधि कहा है–

दादू सबही व्याधि की औषधि एक विचार।

संतों ने सहज ज्ञान प्राप्ति के लिए ध्यान और विचार को प्रधानता दी है। 'विचार' को अधिकांश सन्तों ने प्रधानता देते हुए कहा है कि करोड़ो आचारी एक विचारी के समतुल्य नहीं है–

कोटि अचारी एक विचारी, तऊ न सरभरि हुई।
आचारी सब जग भर्‌या विचारी बिरला कोई।।

'नारी चित्रण'

संत कवियों को सामान्यतः नाथ पंथी सिद्धों की भाँति नारियों की क्रूरता पूर्वक आलोचना करने वाला समझा जाता है। नाथ पंथी संतों ने अपनी रचनाओं में 'नारी निंदा कौ अंग', 'कामी नर कौ अंग' और 'काम निदां कौ अंग' जैसे शीर्शकों में इस बात को पुश्ट करना चाहा है। गीता में भी श्री कृश्ण ने विशयों के चिन्तन से उत्पन्न होने वाली आसक्ति, असाक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृति विभ्रम से बुद्धि नाश और फिर उससे विनाश आदि की ओर संकेत किया है–

क्रोधाद्‌भवति संमोंह सम्मोहात् स्मृति विभ्रम।
स्मृति भ्रंषाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणष्यति।।

संतों ने नारी को नागिन, बाघिन, जूठन, छूरी, यसम मार्जारी, विषफल आदि कहा है–

नारी नागिन एक सी, बाघिन बढ़ी बलाइ।
दिवसे बाघिन मन मौहे, राति सरोवर सोशै।।

सन्तों की दृष्टि में नारी का रूप मनुष्य की शक्ति, विवेक एवं प्रज्ञा का हरण कर लेता है, अतः उससे दूरी ही अच्छी है। गोरखनाथ का कथन है कि 'नदी तीरे बिरषा, नारी संगे पुरुष' अर्थातः नारी में आसक्त रहने वाला व्यक्ति नदी–तट का वृक्ष है। इस कथन को अधिकांश संतों द्वारा स्वीकृत किया गया है।

नारी घोंटी अमल की, अमली सब संसार।
कोइ इक सूफी ना मिला, जा संग उतरै पार।।

उपरोक्त तथ्यों को देखें तो संत कवियों का लक्ष्य नारी की निदां करना न होकर आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने मन को ब्रह्मचर्य एवं स्थिरता की ओर ले जाने का एक बहाना मात्र था। वे जानते थे कि नारी पुरुष की जननी एवं विधाता की सृष्टि की एक साधिका है। जो लोग नारी के इस उपकार को भूलकर उसकी निंदा में प्रवृत्त होते हैं वे विवेकहीन हैं।

नारी जननी जगत की, पाल पोष दे पोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावत दोष।।

सभी सुविचारक संत–महात्मा इस तथ्य को जानते हैं। वे मातृतुल्य नारी जाति को न तो पंकिल नेत्रों से देखते हैं और न उसको अपशब्द कहकर निन्दा करते हैं–

नारी माता पुरुष की, पुरुष नारि का पूत।
दादू ज्ञान विचारि, छाँडि गए अवधूत।।

नारी के प्रति इससे अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण कोई नहीं हो सकता। यही मान्यता ब्रह्मचर्य का मूल है।

संदर्भ सूची

1. हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति – श्याम सुन्दर शुक्ल, प्रकाशक काशी हिन्दी विश्वविद्यालय, वाराणसी–5, पृ.– 145
2. सन्त सुधासागर – वियोगी हरि, पृ.– 93
3. दादू दयाल की बानी – साँच को अंग, पृ.– 16
4. कबीर ग्रन्थावली– पृ.– 262
5. संत– निबन्ध, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ.– 35–36, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
6. संत– निबन्ध, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ.– 37, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
7. भगवान देव पाँडेय (डॉ.) हिन्दी सन्त काव्य में परम्परा और प्रयोग, पृ.– 34
8. गोरखबानी, पृ.– 95
9. गोरखबानी, पृ.– 258
10. गोरखबानी– सम्पादक डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ0– 23, प्रकाशन– हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
11. निबन्ध संग्रह योग प्रवाह– पृ.– 24
12. योगप्रवाह– पृ.– 24
13. नाथ पंथ में योग, मकरंद, पृ.– 11
14. गोरखबानी, पृ.– 23
15. योग प्रवाह, पृ.– 14
16. गोरखबानी, पृ.– 73
17. गोरखबानी, पृ.– 227

18. गोरखबानी, पृ.– 73
19. भगवान देव पाण्डेय (डॉ.) हिन्दी सन्तकाव्य में परम्परा और प्रयोग, पृ.– 66
20. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (डॉ.) सम्पादक गोरखबाणी, पृ.– 77
21. गोरखबाणी, पृ.– 186
22. गोरखबाणी, पृ.– 176
23. योग प्रवाह, पृ.– 170
24. संत कबीर
25. गोरखबानी, पृ.– 53
26. रामानन्द की रचनाएँ
27. ईशावास्योपनिषद 2 / 171
28. दादू दयाल की बानी, भाग 1, पृ.– 218
29. योग प्रवाह, पृ.– 290
30. भगवान देव पाण्डेय (डॉ0) हिन्दी संत काव्य में परम्परा और प्रयोग, पृ.– 79
31. गोरखबानी, पृ.– 71
32. गोरखबानी, पृ.– 227
33. रामानन्द की रचनाएं, पृ.– 258
34. योग प्रवाह, पृ.– 42
35. गोरखबानी, पृ.– 228
36. गोरखबानी, पृ.– 125
37. गोरखबानी, पृ.– 255
38. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (डॉ.) सम्पादक गोरखबानी– पृ.– 63
39. योग प्रवाह, प.– 169
40. योग प्रवाह, पृ.– 24
41. योग प्रवाह, पृ.– 24
42. गीता अध्याय 2, 2–63
43. दादू दयाल की वाणी, पृ.– 248
44. गोरखबानी, पृ.– 137
45. संतबाणी संग्रह– 1 पृ.– 103
46. संतबाणी (दरिया), पृ.– 162
45. दादू दयाल जी की वाणी, पृ.– 125

द्विवेदीयुगीन हिन्दी पत्रकारिता का उपन्यास साहित्य में योगदान

डॉ. राखी उपाध्याय*

हिन्दी में बंगला साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर उपन्यास का रचना संसार विकसित हुआ। भारतेन्दु युगीन हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है– "नाटकों और निबन्धों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग भाषा की देखा देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंग भाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी लेखकों का नए ढंग के उपन्यासों की रचना करने की ओर ध्यान गया। शुक्ल जी का यह कथन विचारणीय है कि– "इस द्वितीय उत्थान में आलस्य का जैसा त्याग उन्यासकारों में देखा गया वैसा और किसी वर्ग के हिन्दी लेखकों में नहीं। अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक धड़ाधड़ निकले।"[2]

प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास लेखकों का कथा रचना संस्कार अंग्रेजी 'नावेल' और बंगला 'उपन्यास' के साथ ही संस्कृत की कथा–आख्यायिका तथा हिन्दी की मध्ययुगीन प्रेम कहानियों के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित हुआ था। क्रमशः हिन्दी उपन्यास प्राचीन संस्कारों से मुक्त होता गया और अब यह पूर्णतः अंग्रेजी का 'नावेल' हो गया है।

इस काल का कथा–साहित्य की दृश्टि से अपेक्षाकृत समृद्ध हैं, किन्तु इस क्षेत्र में लेखकों की प्रकृति पाठकों को कुतुहल, रहस्य और रोमांच के द्वारा मनोरंजन प्रदान करना रही है। सामाजिक जीवन के यथार्थ समस्याओं को उपन्यासकारों ने अपना विशय बहुत कम बनाया उसके स्थान पर रहस्यमयी अद्‌भुत घटनाओं को श्रृंखलाबद्ध किया गया।

इस अवधि में तिलिस्म, ऐय्यारी और जासूसी के रूप में परम्परागत कथा को एक नया आयाम प्राप्त हुआ। भारतीय कथा परम्परा में ये तत्त्व लगभग अनुपस्थित थे। हिन्दी में इनका आगमन फारसी और अंग्रेजी कथा–परम्परा से हुआ, जिसका श्रेय मुख्यतः देवकीनन्दन खत्री और गोपालदास गहमी को और गौणतः दुर्गाप्रसाद खत्री, जयरामदास गुप्त आदि को है।

"प्रवृत्ति भेद के आधार पर द्विवेदी युगीन उपन्यासों को पाँच वर्गों में रखा जा सकता है– तिलस्मी ऐय्यारी उपन्यास, जासूसी उपन्यास, अद्‌भुत घटना प्रधान उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास और सामाजिक उपन्यास।"[3]

इस युग में दो प्रकार के उपन्यासों की श्रेणियाँ देखा जा सकती हैं। पहला वह जिसमें अंग्रेजी और बंगला से बहुत से उपन्यास अनूदित हुए और दूसरा मौलिक उपन्यास।

अनूदित उपन्यास

द्विवेदी युग में अनुदित उपन्यासों की श्रृंखला विस्तृत है। अंग्रेजी, बंगला, मराठी तथा उर्दू भाषा से हिन्दी में अनुदित उपन्यासों की रचना की गई। गंगाप्रसाद गुप्त ने रेनाल्ड के 'लब्ज़ ऑफ द हेयर' का 1904 ई0 में 'रंगमहल' नाम से अनुवाद किया। जर्नादन प्रसाद झा 'द्विज' ने डिफ़ो के 'राबिन्सन क्रूसो' का

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून, उत्तराखण्ड

इसी नास से अनुवद किया। सन् 1914–15 में विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबुल' का अनुवाद 'अभागे का भाग्य' नाम से दुर्गाप्रसाद खत्री द्वारा किया गया। महावीर प्रसाद पोद्दारने स्टो के 'अंकल टाम्स केबिन' का 'टाम काका की कुटिया' (1916) में अनुवाद किया। सन् 1916 में लाला चन्द्रलाल ने स्कॉट के 'द एबट' का रानी मेरी के नाम से अनुवाद किया।

बंगला भाषा से अधिक उपन्यास अनुदित हुए। शुक्ल जी के अनुसार "इस उत्थान के भीतर बंकिमचंद, रमेशचंद दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चंडी चरण सेन, शरत्बाबू, चारूचंद्र इत्यादि बंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए, रवीन्द्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यास हिन्दी रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अन्त में आविर्भूत होने वाले हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवाद–विधान में योग देने वालों में पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा और पंडित रूप नारायण पांडेय विशेष उल्लेख योग्य हैं।"[4]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगला साहित्य में बंकिमचंद चटर्जी (1838–94 ई0), रमेश चन्द्र दत्त (1848–1909 ई0), तारक नाथ गांगुली (1855–91 ई0), दामोदर मुकर्जी (1853–1907 ई0) तथा स्वर्णकुमारी के उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हुए। इसीलिए प्रारम्भ में हिन्दी में इन्हीं के अनुवाद प्रकाशित हुए। श्री गदाधर सिंह ने रमेशचन्द्र दत्त कृत 'बंग विजेता' और बंकिम कृत 'दुर्गेश नन्दिनी' का अनुवाद किया। रमेशचन्द्र दत्त के 'माधवी कंकरण' और 'राजपूत जीवन संध्या' का अनुवाद जनार्दन झा क्रमशः 1912 ई0 और 1913 ई0 औश्र 1913 ई0 में किया। 'महाराश्ट्र जीवन प्रभात' का अनुवाद श्री रुद्र नारायण ने किया। बाबू राधा कृष्ण दास ने तारकनाथ गांगुली के 'स्वर्णलता' का पं0 प्रताप नारायण मिश्र ने बंकिम कृत 'राज सिंह, इन्दिरा 'राधारानी' और 'युगलांगुरीय' का अनुवाद किया। मुंशी हरित नारायणलाल ने स्वर्ण कुमारी कृत 'दीप निर्वाण' का अनुवाद किया। राधा चरण गोस्वामी ने 'विरजा' और 'जावित्री' का बाबू रामकृश्ण वर्मा ने 'चित्तोरे चातकी' का बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'इला' (1895) और 'प्रमीला' (1896) में 'जया' तथा 'मधुमालती का तथा बाबू गोपालराम गहमरी ने 'चतुर चंचला' (1893), 'भानमती' (1894), 'नये बाबू' (1894), 'बड़ा भाई' (1900) , 'देवरानी जेठानी' (1901), दो बहिन तीन पतोहू (1904) आदि का अनुवाद हुआ। गहमरीजी ने भावात्मक अनुवाद प्रस्तुत किए। इस युग के अनुवादकों की भाषा परिमार्जित नहीं है। कालान्तर में पं0 ईश्वरी प्रसाद शर्मा और पण्डित रूप नारायण पाण्डेय ने शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी में अच्छे अनुवाद किए।

मराठी से 'चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश' का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी ने भारतेन्दु से प्रेरित होकर किया। बाबू वर्मा द्वारा अनुदित 'छत्रसाल' को अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। गुजराती से श्री लज्जाराम शर्मा ने 'कपटी मित्र' का अनुवाद किया।

मौलिक उपन्यास

'चन्द्रकान्ता' का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास के इतिहास में क्रान्तिकारी घटना है जिसने उपन्यास के स्वरूप में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया। इसके पूर्व लगभग 20 वर्शों में केवल एक दर्जन कमोवेश 'उपन्यास' कहलाने योग्य मौलिक कथा पुस्तकें लिखी गई थीं। इस समय विविध विशयों के उपन्यासों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है घटनात्मक उपन्यास, तिलस्मी ऐयारी, जासूसी, उपन्यास, अद्भुत घटना प्रधान, ऐतिहासिक उपन्यास सामाजिक उपन्यास।

तिलस्मी ऐयारी उपन्यास– तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों के प्रर्वत्तक बाबू देवकी नन्दन खत्री (1861–1913 ई0) हैं। "तिलिस्म शब्द यूनानी', 'टेलेक्मा' और अरबी 'तिल्सम' का हिन्दी रूपान्तर है।

इसका अर्थ जादू, इन्द्रजाल या अलौकिक रचना या गड़े हुए आदि के ऊपर बनाई गयी सार्पदि की भयावनी आकृति है। प्राचीन काल में राजा और धनाधीष लोग तिलस्मी किले और महल बनवाते थे। तिलस्मी इमारत प्रायः किसी बहुत बड़े खजाने के ऊपर बनवायी जाती थी। प्रायः खजाना गाड़ने वाले के वंश में होने वाला कोई प्रतापी पुरुष ही उसे तोड़कर खजाना प्राप्त करता था। तिलिस्म बाँधने में बड़े–बड़े ज्योतिशियों तान्त्रिकों, कारीगरों और गुणियों की सहायता ली जाती थी। सामान्यतः जिन उपन्यासों में कथानायक द्वारा तिलस्मी इमारतों को तोड़कर खजाना प्राप्त करने की कथा वर्णित होती है उन्हें तिलस्मी उपन्यास कहते हैं। इस कार्य में नायक को अपने ऐयारों से बड़ी सहायता मिलती है। "ऐयार" अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ तीव्रगामी या चपल व्यक्ति होता है। श्री देवकीनन्दन खत्री के अनुसार "ऐयार" उसको कहते हैं जो हर एक 'फन' जानता हो। शक्ल बदलना और दौड़ना, उनका मुख्य कार्य है।"[5]

पं0 रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्व–साधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थी।"[6]

'चन्द्रकान्ता' को हिन्दी उपन्यास जगत में काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई। खत्री जी ने उत्साहित होकर 'चन्द्रकांता संतति' 24 भाग (1896 ई0), 'नरेन्द्र मोहिनी' (1893 ई0), 'वीरेन्द्र वीर' (1895 ई0), 'कुसुम कुमारी' (1899 ई0), 'काजर की कोठरी', 'भूतनाथ प्रथम 6 भाग' (1906 ई0) आदि अनेक उपन्यासों की रचना की।

श्री हरेकृष्ण जौहर ने 'कुसुमलता' (1899 ई0), 'भयानक भ्रम' (1900 ई0), 'नारी पिशाच' (1901 ई0), 'मयंक मोहिनी या माया महल' (1901 ई0), 'जादूगर' (1901 ई0), 'कमल कुमारी' (1902 ई0), 'निराला नकाबपोश' (1902 ई0) तथा भयानक खून (1903 ई0) आदि कई तिलस्मी उपन्यास लिखे।

श्री किशोरी लाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के साथ ही कुछ तिलस्मी उपन्यास भी लिखें। उनके द्वारा रचित 'तिलस्मी शीशमहल' (1905 ई0) में प्रकाशित हुआ।

बाबू देवकीनन्दन खत्री के पुत्र बाबू दुर्गा प्रसाद खत्री (1895 ई0) ने अपने पिता की परम्परा को आगे बढ़ता हुए 'भूतनाथ' को पूर्ण किया और 'रोहतास मठ' नामक मौलिक तिलस्मी उपन्यास लिखा। देवकी प्रसाद उपाध्याय का 'सुन्दर सरोजनी' (1893 ई0) गुलाब दास का 'तिलस्मी बुर्ज', विश्वेश्वर प्रसाद वर्मा का वीरेन्द्र कुमार (1906 ई0) श्री रामलाल वर्मा का 'पुतली का महल' (1908 ई0) आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों का इतना प्रचार हुआ कि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मी पुट दिया जाने लगा।

"खत्री जी का अनुकरण उनके जीवन काल में ही आरम्भ हो गया था। उनके उपन्यासों की लोकप्रियता से प्रेरित होकर हरिकृश्ण जौहर, मदन मोहन पाठक, बालमुकुन्द वर्मा, किशोरीलाल, गोस्वामी विनायकलाल दादू, रूपनारायण शर्मा, कुँवर लक्ष्मीनारायण गुप्त, विश्वेश्वर प्रसाद वर्मा, ठाकुर जंगबहादुर सिंह, शंकर दयाल श्रीवास्तव, रामलाल वर्मा, वृन्दावन बिहारी सिंह, ब्रह्मदत्त शर्मा, चन्द्रशेखर पाठक, गोविन्ददाव तेलंग, जगन्नाथ मिश्र, रूप किशोर जैन आदि लेखकों ने 1898–19136 की अवधि में दर्जनों ऐयारी–तिलस्म प्रधान रोमांसों की रचना की।"[7]

जासूसी उपन्यास– 19वीं शताब्दी में अंग्रेजी जासूसी उपन्यासकार सर आर्थर कानन डायल (1859–1930) के जासूसी उपन्यास लोकप्रिय हुए। बंगला में भी जासूसी उपन्यास लिखे जाने लगे। गोपाल राम गहमरी ने बंगला उपन्यास से 'हीरे का मोल' उपन्यास अनूदित कर प्रकाशित कराया। इसकी लोकप्रियता को देखकर उन्होंने 1900 ई0 में गहमर से 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकाला। यह 1938

ई0 तक प्रकाशित होता रहा। इसके लिए इन्होंने 200 जासूसी उपन्यास लिखे। 'बेकसूर को फाँसी' (1900 ई0) उपन्यास में गहमरी जी ने हिन्दी पाठकों की तत्कालीन स्थिति के संबंध में लिखा था– "आजकल हिन्दी की दशा बदली है। तीस चालीस बरस पहले से इस समय हिन्दी का भंड़ार पुस्तकें बनती और छपती है, नित नये मासिक, साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन हो रहा है, कई योग्य और बड़े डील–डौल के सचित्र पत्रों से हिन्दी का विचित्र चित्र चित्त को हर लेता है।"[8]

रामचन्द्र शुक्ल ने गहमरी जी की जासूसी कथा पुस्तकों को 'साहित्य कोटि' में न रखते हुए उन्हें अपने 'इतिहास' से बाहर रखा है। लेकिन गहमरी जी की कथा रचनाओं की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी भाशा है, जो उन्हें उपन्यास के निकट ले आती है। उनकी कथा पुस्तकों में प्रकृति और स्त्री–सौन्दर्य वर्णन के अनेक स्थल हैं, जहाँ भाषा 'साहित्य' के स्तर तक पहुँचाती है। उनकी भाशा की एक और विशेषता उसका पात्रों के अनुरूप होना है। भाषा की इतनी विविधता उस काल के उपन्यासों में नहीं मिलती है।

गहमरी के पश्चात् श्री रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता', 'अस्सी हजार की चोरी' आदि कई उपन्यास लिखकर जासूसी उपन्यासों की परम्परा को आगे बढ़ाया। इसके अतिरिक्त किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'जिन्दे की लाश (1906 ई0), जयराम दासगुप्ता का 'लंगड़ा खूनी' (1907 ई0) तथा 'काला चाँद' राम प्रसाद लाल का 'हम्माम का मुर्दा' (1903 ई0) आदि उपन्यास भी जासूसी परम्परा में रखे जा सकते हैं।

अद्‌भुत घटना प्रधान उपन्यास

इस तरह के उपन्यासों में चोरी, डकैती, जाल–फरेब, जुआ, खून आदि से संबंधित अद्‌भुत काण्डों का जाल रहता था। इसकी प्रेरणा तत्कालीन उपन्यासकारों को रेनाल्ड्स कृत 'मिस्ट्रीज ऑफ दी कोर्ट ऑफ लंडन' के अनुवाद 'लन्दन रहस्य' से प्राप्त हुई थी। ये उपन्यास तिलस्मी–ऐयारी और जासूसी उपन्यासों से भिन्न होते हुए भी मनोरंजन से भरपूर होते थे। यह उपन्यास रोमान्चकारी रहस्य से ओत–प्रोत होते थे। निहाल चन्द वर्मा 'प्रेम का जाल' या 'मिस जौहरा' (1913 ई0), प्रेम विलास वर्मा कृत 'प्रेम माधुरी' या अनंग कान्ता (1915 ई0), पं0 विट्ठल दास नागर कृत 'किस्मम का खेल' (1905 ई0), श्री बाकेलाल चतुर्वेदी का 'खौफनाक खून' (1912 ई0) आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इसी प्रकार के उपन्यासों का निर्वाह दुर्गा प्रसाद खत्री ने वैज्ञानिक आविश्कारों को आधार बनाकर रहस्य की सृश्टि करते हुए 'प्रतिशोध (1920 ई0), 'लाल पंजा (1925 ई0), 'रक्तमण्डल' (1927 ई0) आदि उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों में 'रहस्य' के साथ ही राश्ट्रीयता एवं सशस्त्र क्रान्ति की भावना को जाग्रत करने का प्रयास किया गया।

सामाजिक उपन्यास

द्विवेदी युग के सामाजिक उपन्यासकारों में श्री बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, श्री राधाकृष्ण दास, श्री लज्जाराम शर्मा, श्री किशोरी लाल गोस्वामी, श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्री ब्रजनन्दन सहाय तथा श्री मन्नन द्विवेदी प्रमुख हैं।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपन्यासकार हैं।

गोस्वामी के उपन्यास 'इन्दुमती' का प्रकाशन पहले सरस्वती में 1901 ई0 में कहानी के रूप में हुआ। बाद में इसकी पृष्ठ संख्या बढ़ाकर 15 पृष्ठ करके इसे उपन्यास के रूप में प्रकाशित किया गया। 'चंपला वा नव्य समाज' उपन्यास का 'नव्य समाज' विचारों से आधुनिक, प्रगतिशील और बुद्धिवादी समाज न होकर– अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित 'पथभ्रष्ट' युवा समाज है।

श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट या देवबाला' (1894 ई0) तथा 'अधखिला फूल' (1907 ई0) दो सामाजिक उपन्यास लिखे। 'अध खिला फूल' धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया तथा धार्मिक अंध विश्वासों का कुपरिणाम दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त इस युग के अन्य प्रमुख सामाजिक उपन्यासकारों में श्री मुरलीधर शर्मा का 'सत्कुचाचरण' (1900 ई0), श्री कमला प्रसाद कृत 'कुलकलंकिनी' (1905 ई0), पं0 लोचन प्रसाद पाण्डेय कृत दो मित्र' (1906 ई0), श्री रामजी हंस वैश्य कृत 'फूल में काँटा' (1906 ई0) तथा 'धोखे की पट्टी' (1907 ई0), श्री गया चरण त्रिपाठी कृत 'सती' (1906 ई0), श्री ईश्वरी प्रसाद शर्मा कृत 'हिरण्य मयी (1908 ई0), 'स्वर्णमयी' (1910 ई0), श्री हरस्वरूप पाठककृत 'भारत माता' (1915 ई0), श्री कृश्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' (1916 ई0) आदि के उपन्यास उल्लेखनीय है।

इन उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य हिन्दू समाज की अनेक समस्याओं का चित्रण तथा धर्मानुरूप आदर्श चरित्र प्रस्तुत करना है।

ऐतिहासिक उपन्यास

जिस समय देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' का आरम्भ किया लगभग उसी समय किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐतिहासिक रोमांस लिखना आरम्भ किया। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों पर रेनॉल्ड्स के उपन्यासों का प्रभाव भी लक्षित होता है तथा राष्ट्रीय चेतना की झलक भी मिलती है। उनके उपन्यासों में मुस्लिम शासन की तुलना के ब्रिटिश शासन को बेहतर बताया गया है। गोस्वामी जी ने '1890 ई0' में प्रताप नारायण मिश्र की प्रेरणा से ह्रदयहारिणी वा आदर्श रमणी, नामक ऐतिहासिक रोमांस की रचना की जो मिश्र जी द्वारा सम्पादित 'हिन्दुस्तान' के कई अंकों में उसी वर्ष प्रकाशित हुआ। पर पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन चौदह वर्श बाद 1904 ई0 में हुआ।

गोस्वामी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में 'तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी' (1902 ई0), 'कनक कुसुम वा मस्तानी' (1903 ई0), 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल (1904 ई0), 'ह्रदयहारिणी वा आदर्श रमणी' (1904 ई0), 'लवंगलता वा आदर्श बाला' (1904 ई0), 'मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी' (1909–11 ई0), 'गुलबहार वा आदर्श मातृस्नेह' (1916 ई0) तथा लखनऊ की 'कब्र या शाही महल सरा' (1917 ई0) आदि प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास की दृश्टि से 'लखनऊ की कब्र' इनका सर्वश्रेश्ठ उपन्यास है। सन् नब्बे के दशक में हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास का 'रोमांस' के रूप में जन्म हो जाने पर भी उसका विकास सन् 1901 ई0 के पश्चात् ही हुआ।

बालकृष्ण भट्ट की गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में काव्यात्मक वातावरण के निर्माण का प्रयत्न किया। उनके परवर्ती ऐतिहासिक उपन्यासों में भाषा संबंधी एक बदलाव दिखाई पड़ता है।

गोस्वामी जी के समकालीन ऐतिहासिक उपन्यासकारों में गंगा प्रसाद गुप्त कृत 'नूरजहाँ (1902 ई0), 'वीर पत्नी' (1903 ई0), 'कुमार सिंह सेनापति' (1903 ई0), 'हम्मीर' (1903 ई0) आदि प्रमुख हैं।

जयराम गुप्त ने समकालीन तीन वर्शों में 'कश्मीर पतन' (1907), किशोरी वा वीरबाला (1907 ई0), मायारानी (1908 ई0), नवाबी परिस्तान वा वाजिद अली शाह (1908 ई0), कलावती (1909 ई0), प्रभात कुमारी (1909 ई0), वीरवीरांगना (1909 ई0) आदि उपन्यास लिये। इनमें भी रुमानी तत्त्वों युद्ध और प्रेम में अतिरंजित और अविश्वसनीय वर्णनों का प्राचुर्य है।

श्री मथुरा प्रसाद शर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास 'नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर' (1905 ई0) प्रसिद्ध हैं। इसकी यह विशेषता है कि इसमें इतिहास अधिक तथा कल्पना कम है।

श्री बलदेव मिश्र ने 'अनारकली' (1900 ई0) 'पृथ्वीराज चौहान' (1902 ई0) तथा पानीपत (1902 ई0) तीन ऐतिहासिक उपन्यास लिखा।

इस अवधि में ज्ञात इतिहास, अनुश्रुतियों और कल्पना के मिश्रण से ऐतिहासिक कथाएँ भी लिखी गई जिसमें ब्रजबिहारी सिंह कृत 'कोटारानी' (1902 ई0), लालजी सिंह कृत 'वीरबाला' (1905 ई0), मुंशी देवी प्रसाद कृत 'रूठी रानी' (1906 ई0), बलभद्र सिंह कृत 'सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय (1909 ई0), रामनरेश त्रिपाठी कृत वीरांगना (1911 ई0), रामप्रताप गुप्त कृत 'महाराश्ट्र वीर' (1913 ई0), चन्द्रशेखर पाठक कृत भीम सिंह (1915 ई0) युगल किशोर नारायण सिंह कृत 'राजपूत रमणी' (1916 ई0), मिश्र बन्धु कृत 'वीरमणि' (1917 ई0) आदि उल्लेखनीय है।

इस अवधि के प्रायः सभी उपन्यासकार कथा प्रस्तुति में किस्सागों की भूमिका में प्रत्यक्षतः विद्यमान रहते हैं। वे कभी भी अपने पाठकों का साथ नहीं छोड़ते और उन्हें 'प्रियपाठक', 'रसिक पाठक' आदि कहकर सम्बोधित करते रहते हैं।

इस काल में हिन्दी उपन्यास अपने लिए विशिष्ट भाषा तलाश कर रहा था। उपन्यासकार के सामने पहले से चली जाती दो मासिक परम्पराएँ थी। एक साधारण कथा–भाषा की थी जो बोलचाल की सामान्य भाषा के रूप में होती थी। दूसरी संस्कृत गद्य काव्य परम्परा थी जिसमें काव्यात्मकता के नाम पर अलंकरण की प्रमुखता थी।

संदर्भ सूची

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 455
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 339
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 नगेन्द्र, पृष्ठ 490
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 340
५. हिन्दी साहित्य का गद्य साहित्य, डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ 116
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 498
७. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृष्ठ 17
८. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृष्ठ 98

खजुराहो के मंदिर का कलात्मक अध्यन

प्रेमलता *

भारत देश में समय–समय पर अनेक धर्मों का उद्‌भव हुआ। और धर्म प्रचार–प्रसार में मंदिरों का निर्माण हुआ। क्योंकि भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है। इसलिए यहां के मंदिर ब्राह्मण जैन बौद्ध आदि धर्म के प्रति मानव की आस्था के साक्षी रूप में जाने जाते हैं। यह मंदिर भारतीय कला के भी सर्वोत्तम उदाहरण है। मध्य प्रदेश में स्थित खजुराहो के मंदिर भी इसी श्रेणी में आते हैं। जो कला एवं सौंदर्य के प्रतीक हैं। खजुराहो स्मारक जोकि एक हिंदू और जैन धर्म के स्मारकों का एक समूह है। भारतीय राजा मध्य प्रदेश के छतरपुर क्षेत्र में देखने को मिलते हैं। यह स्मारक दक्षिण–पूर्व झांसी से लगभग 175 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। यह स्मारक समूह यूरेस्को विश्व धरोहर में भारत का एक धरोहर क्षेत्र गिना जाता है। यहां पर ज्यादातर मूर्तियां कामुक कला की है। अर्थात अधिकतर मूर्तियां नग्न अवस्था में स्थापित हैं। मंदिर अपनी विशेषताओं के कारण न केवल भारत वर्ष बल्कि संसार में विख्यात है।(1)

चित्र संख्या. 01 खजुराहो मंदिर

खजुराहो की शिल्प का विकास मूर्तियों के स्वरुप में किया गया है। यहां के मंदिर धार्मिक दृष्टि से नगण्य है। परंतु वास्तु शास्त्र के नागर शैली में यह मंदिर विशेष स्थान रखते हैं। मंदिरों को भारत अथवा आंचलिक शैली के मंदिरों के रूप में जाना जाता है। खजुराहो 10वीं–11वीं शताब्दी के हिंदू मंदिरों के लिए विश्वविख्यात है। खजुराहो की भव्य कला वैभव का निर्माण 950–1050 ईस्वी के मध्य हुआ था। (2) खजुराहो को प्राचीन काल में खजूरपुरा अथवा खजूर वाहिका के नाम से भी जाना जाता था। यहां बहुत बड़ी संख्या में प्राचीन हिंदू और जैन मंदिर हैं। हिंदूकला और संसति को शिल्पियों ने इस शहर के पत्थरों पर मध्यकाल में उत्कीर्ण किया था। खजुराहो का इतिहास लगभग 1000 साल पुराना है। यह शहर चंदेल साम्राज्य की प्रथम राजधानी थी। चंदेलवंश और खजुराहो के संस्थापक चंद्रवर्मन थे। खजुराहो नगर के द्वार पर दो स्वर्ण वर्ण खजूर के वृक्ष थे जो द्वार को अलंत करते थे। उन्हीं खजूर के पेड़ों के कारण इसका नाम खजुरा हो पड़ा। राजधानी होने के कारण चंदेलों के समय इसका विकास चरमोत्कर्ष पर था। चंदेलवंश की स्थापना नन्नूक ने डाली और आगे चलकर इस वंश में एक से एक प्रतापी व शक्तिशाली राजा हुये। उनमें जयशक्ति, हर्ष एवं यशोवर्मन तथा विद्याधर के नाम से उल्लेखनीय है।(3) इनके समय में खजुराहो की विशेष उन्नति हुई। खजुराहो के मंदिर नागर शैली के सबसे सुंदर तथा विकसित मंदिर हैं। इस शैली की विशेषता है कि यह मंदिर ऊंची जातियों पर पर्वतों के सश्य उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए शिखरों से सुसज्जित होते हैं। बाह्य रूप से एक दिखने वाले यह मंदिर आकार में आंशिक तौर पर 5 भागों में विभाजित है।(4)

1. अर्धमंडपः –प्रवेश कक्ष प्रवेश बरामदा कहा जाता है। जो चौकोर होता है।

* प्रवक्ता (विसुअल आर्ट) मंगलायतन यूनिवर्सिटी, अलीगढ़

2. महामंडपः – ऊंचे चबूतरे वाला भाग जहांनृत्यांगना धार्मिक नृत्य करती हैं इसे महामंडल कहते हैं।
3. अंतरालः – गर्भ ग्रह के समीप गलियारों का वह भाग जहां बैठकर पुजारी लोगों की पूजा पाठ में सहायता करते हैं। यह महा मंडल एवं गर्म ग्रह को जोड़ता है।
4. गर्भ ग्रहः– जहां प्रमुख देवी देवताओं की प्रतिमाए स्थापित रहती है।
5. प्रदक्षिणापथः –यह गर्भ ग्रहके चारों ओर होता है। जोकि आंतरिक एवं बाह्य मंदिरों के मध्य होता है।

खजुराहो की मूर्तिकला हिंदू मंदिर वास्तुकला अथवा वास्तु रचना है। जिसका बाह्यभागबहुसंख्यक मूर्तियों से आवेशित किया जाता है। यह उक्ति खुजराहो मंदिर के संबंध में अक्षरशः मूर्तियों द्वारा अलंत है। खजुराहो में प्रतिमाओं के साथ ही नायिकाओं आखेटष्यों एवं काल्पनिक अंक न किया गया है। रथिकाए देव प्रतिमाओं द्रारा अलंत है खजुराहो मंदिर गर्भगृह में स्थापित प्रधान देवता की प्रतिमाएं अपने अंकल एवं प्रतिमा लक्षण की ष्टि से अनुपम प्रतियां हैं।

"सुंदर खजुराहो का कौशल
नयनो को अधिक लुभाताहै।
मानस में जाने कितने ही
भावों के ज्वार उठाता है।"(5)

चतुर्भुज मंदिर के गर्भ गृह में स्थापित विष्णु की प्रतिमा अपनी भव्यता एवं विशिष्ट लक्ष्यों के कारण आकर्षण का विषय है। इस मूर्ति में शिव एवं विष्णु दोनों देवताओं की विशेषताएं उपलब्ध है। खजुराहो के मंदिर निर्माण कला के सर्वोच्चपूर्ण आदर्श है।

यहां के मंदिरों में गर्भ ग्रह अंतराल अर्ध मंडल महामंडप तथा चतुष्कि के लिए अलग–अलग छतें बनाई गई है। खजुराहो शिल्प कला के प्रसिद्ध स्थानों में से एक है। जो विश्व में उंगलियों पर गिने जाते हैं।(6)

मंदिर अपनी विशेषताओं के कारण ना केवल भारत में बल्कि संसार में विख्यात है। खजुराहो की शिल्प का विकास मूर्तियों के स्वरुप में किया गया है मंदिरों की दीवारों के अंदर और बाहर मूर्तियां इस तरह बनाई गई है। आंखों का पेयबन गई है। कुछ मंदिरों मेंमूर्तिकारों नेमूर्तियों में भव्यता और विशालता भर दी है। पश्चिमी क्षेत्र में सर्वाधिक और महत्वपूर्ण मंदिर या चौसठ योगिनी, कंदरिया महादेव मंदिर, देवी जगदंबा, चित्रगुप्त, विश्वनाथमंदिर, बराह और नंदी मंदिर है। दक्षिणहिस्से मेंहुलादेव मंदिर और चतुर्भुज मंदिर है। पूरब की ओर सभी जैन मंदिर है। जैसे पार्श्वनाथ मंदिर, आदिनाथ मंदिर, शांतिनाथ मंदिर और हिंदू मंदिरों में जावरी मंदिर कमल मंदिर और हनुमान मंदिर भी है। सभी मंदिर ठोस और ऊंचे चबूतरे पर बने हैं।मंदिर का प्रवेश द्वारका अनूठा उदाहरण है।(7)

कंदरिया महादेव मंदिर

कंदरिया महादेव का मंदिर खजुराहो का विशिष्ट मंदिर है। मुख्य भवन संगमरमर से बना शिवलिंग स्थापित है।मंदिर का मुख पूरब की ओर है। और दूसरा प्रवेश द्वार सिर्फ एक चट्टान से बनाया गया है। बगल में ही देवी जगदंबा का मंदिर है। यह पहले भगवान विष्णु को समर्पित था।

चित्र संख्या– 02 कंदरिया महादेव

कंदरिया महादेव मंदिर यह मंदिर गंड देव के पुत्र विद्याधर द्वारा लगभग 1065 ईस्वी में बनवाया गया था। यह शिव मंदिर है। मध्ययुगीन स्थापत्य एवं शिल्प कला का उत्ष्ट उदाहरण है। यह मंदिर 117 फीट ऊंचा व इतना ही लंबा तथा 66 फुट चौड़ा है। इस मंदिर के गर्भगृह में संगमरमर का बना शिवलिंग है। जो अन्य मंदिरों से विशाल है इसमें देवी देवताओं और सामाजिक जीवन के क्रियाकलापों आदि की मूर्तियां निर्मित है।(8)

चित्र संख्या– 03 गर्भ गृह में स्थापित संगमरमर के शिवलिंग को अमरनाथ का प्रतीक माना जाता है

विश्वनाथ मंदिर

विश्वनाथ मंदिर का निर्माण राजा धंगदेव ने कराया था। उन्होंने इस मंदिर में शिवलिंग स्थापित करायी पन्ने और एक पत्थर के मिश्रण से बना है। वाह शिवलिंग आज नहीं है। मंदिर के शिखर का आकार शंकु की तरह है। इस मंदिर में नाचनी अप्सराओं की मूर्तियां और तैरती आतियां बनी है।(9)

चित्रसंख्या 04 विश्वनाथमंदिर

लक्ष्मण मंदिर

चत्र संख्या 05 लक्ष्मण मंदिर

लक्ष्मण मंदिर में मूर्तिकार ने एक के ऊपर एक मूर्तियां बनाई है। यह मंदिर लगभग 930 ईसवी में बना है। भगवान विष्णु का यह मंदिर यशोवर्मन नामक राजा ने बनवाया था यह मंदिर पंचायतन शैली में बना हुआ है।

खजुराहो के मंदिर धार्मिक सहिष्णुता के जीवंत प्रमाण है। मंदिरों की संख्या यहां पर वैष्णो मंदिर की संख्या 13 और शैवमंदिर 08, सौर्य मंदिर 02, शक्ति मंदिर 01 जैन मंदिर 04 है।(10)

चौसठ योगिनी मंदिर

यह मंदिर खजुराहो का सबसे प्राचीन मंदिर है इस मंदिर में चौसठ योगिनी की पूजा तांत्रिकों द्वारा की जाती है। इसकी आति चस्त कोणीय 31.4×18.3 मीटर छोटे–छोटेगर्भ ग्रहके साथ बनाई गई थी। इसमें देवियों की प्रतिमाएं स्थित है। अवशेष के रूप में अब केवल छोटे गर्भग्रहों में से 35 बच्चे हुए हैं। जिनमें किसी प्रकार की मूर्ति नहीं है।(11)

चित्र संख्या–06 चौसठ योगिनी मंदिर

ललगुंवा मंदिर

यह एक साधारण आकार का पश्चिमी मुखी मंदिर है। इसका शिखर पिरामिड के आकार का है। यह मंदिर भगवान शिव के लिए बनाया गया है। इस मंदिर के सामने नंदी की सुंदर प्रतिमा बनी हुई है।(12)

मंतगेश्वर महादेव

यह चंदेल राजाओं के द्वारा बनवाया गया पहला मंदिर है। इस मंदिर को सर्वप्रथम महाराज हर्षवर्धन ने मरक तमणि नामक मणि की स्थापना की थी। जिसे स्वयं भगवान शिव ने युधिष्ठिर को दी थी। बालू पत्थर का बना हुआ। यह मंदिर शिल्पकारी की ष्टि से बहुत साधारण है। रचना की ष्टि से ब्रह्मा मंदिर का ही विशाल रूप है। इसमें गर्भ गृह में जंघा एवं शिवलिंग की स्थापना है। मंदिर की छत वर्गाकार सुंदर एवं विशालहै।(13)

वराहमंदिर

लावापत्थर की काफी ऊंची नींव पर बना हुआ। बालू पत्थर का मंदिर आयताकार मंडप के रूप में बना हुआ है। इसका एक शिखर प्लान शैली का बना हुआ है। इस मंदिर में भगवान विष्णु के वराह रूप को दिखाया गया है। इसमें अनगिनत देवी देवताओं की प्रतिमाएं हैं। इस मंदिर की छत सुंदर कमल के फूल की आति से सुसज्जित है।(14)

देवी जगदंबा मंदिर

यह मंदिर निर्माण शैली में बना हुआ है। इस मंदिर का निर्माण "गण्डदेव वर्मन" ने कराया था। यह विष्णु का मंदिर था। लेकिन सन 1880 ईसवी में महाराजा छत्तपुर द्वारा मनियागढ़ से पार्वती की मूर्ति यहां लाकर स्थापित करने से यह पार्वती या जगदंबा मंदिर कहलाया।

चित्र संख्या–07 जगदम्बा मंदिर खजराहो

खजुराहो में बनी मूर्तियां उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंची। शरीर की लचक भावपूर्ण भंगिमाओं के लिए विशेष उल्लेखनीय एवं विश्व विख्यात मूर्तियां है। इसमें विष्णु, शिव, गणपति, महिषासुरमर्दिनि, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ आदि देवताओं की प्रतिमा है। इसमें नारी सौंदर्य कमनीयता लावण्य एवं म्बहुरूपा श्रंगाररत आतिया है। जो सुंदर सुंदरियों और अप्सराओं के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। दीवार पर बनी प्रतिमाओं को गहराई तक उभारा गया है। इसने लोक जीवन की झांकी प्रदर्शित की गई और परिवार के क्रियाकलापों युद्ध आंखेटश्रम शिक्षा आदि श्यों को संयोजित किया गया और छोटे गढ़ों गन्धर्वो, किन्नर एवं विद्या धरों प्रतिमाओं के साथ प्रतीकात्मक मूर्तियां बनाई गईहै। काम कला से संबंधित प्रतिमाएं हैं। इसने प्रेमी युगल को सामंजस्य एवं असामाजिक से कीड़ा मेरठ दर्शाया गया है। इस प्रकार के श्य प्राय उत्तर मध्यकालीन सभी केंद्रों में दर्शाए गए है। कुछ विद्वानों ने जनसाधारण तक कामसूत्र के सिद्धांतों को पहुंचाने के लिए इनका अंकन किया है। कुछ का मानना है। कि कलाकार ने सौंदर्य बोध व सुंदरता की ओर आकर्षित होकर इन्हें बनाया गया है। तो वहीं कुछ लोगों ने भोगकों भी एकमोक्ष का एक मार्ग मानते हुए भोग कि इस क्रिया को धार्मिक अनुष्ठान और पूजा पाठ की तरह संपन्न किया।(16)

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास – डा० रीता प्रताप
2. युग युगीनभारतीय कला – महेश चंद्र जोशी
3. भारतीय मूर्तिकला का इतिहास – डा० रामष्ण दास
4. भारतीय चित्रकला मूर्तिकला का इतिहास– डा० भूषण वाराणसी
5. मूर्तिकला का इतिहास – एस एम असगर
6. प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला – अरविंद कुमार सिंह
7. भारतीय चित्रकला का विकास – राधाकमल मुखर्जी

अल्मोड़ा जनपद के ताम्रशिल्प : एक अध्ययन

सागर सिंह भैंसोड़ा*

सांस्कृतिक नगरी अल्मोड़ा उत्तराखण्ड राज्य के कुमाऊँ मण्डल का एक प्रसिद्ध जिला है जिसका अपना विशिष्ट स्थान रहा है। प्रकृति के सौन्दर्य से घिरा अल्मोड़ा चन्द राजाओं की राजधानी रह चुकी हैं। चन्दराजाओं में राजधानी बनाने का श्रेय बालो कल्याणचंद को दिया जाता है।[1] अल्मोड़ा जनपद में कत्यूरियों, चन्दों, गोरखों अंग्रेजों का शासन रहा है।

अल्मोड़ा से प्राप्त चित्रित शैलाश्रयों, ताम्रमानवाकृतियों आदि से यह स्पष्ट है कि यहाँ मानव प्रारम्भ से ही कला में अभिरुचि रखता था।

अल्मोड़ा जनपद के उत्तर में चमोली तथा बागेश्वर जनपद, पश्चिम में गढ़वाल जिला, दक्षिण में नैनीताल जनपद तथा पूर्व में पिथौरागढ़ एवं चम्पावत जिले से घिरा हुआ है।[2]

अल्मोड़ा जनपद धातुकला के लिए प्रसिद्ध रहा है यहाँ टम्टा समुदाय द्वारा निर्मित किये जाने वाले धातु पात्रों में नायाब नमूने देखे जा सकते है। अल्मोड़ा के धातुशिल्प का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। ताम्रयुग में यहाँ धातुओं को तपाकर व ढ़ालकर बर्तन बनाये जाने लगे थे। मूर्तियों में सर्वप्रथम सरलीकृत मानवाकृति बनाई गई। अल्मोड़ा की एक ताम्रमानवाकृति प्राप्त हुई है।[3] इन ताम्रमानवाकृति से यह पता चलता है कि ताम्र संस्कृति में अल्मोड़ा के मानवों का भी हाथ रहा है।

ताम्र जिसे एक पवित्र धातु के रूप में माना जाता है यह अल्मोड़ा के परम्परागत उद्यमों में से एक है। ताम्र उद्योग लघु एवं घरेलू उद्योगों में भी पनपा है। यहाँ उच्चकोटि के ताम्रशिल्पी रहते है जिन्हें टम्टा कहते है। टम्टा समुदाय के लोग ताम्र पात्रों में बड़े महिन ढंग से चित्रों को उकेर कर उसमें अलग–अलग आकृतियाँ बनाते है। टम्टा समुदाय के लोग पात्रों में घरेलू व धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयोग होने वाले बर्तनों का निर्माण करते है जो दैनिक क्रियाकलापों में काम में लाये जाते है। ताम्र निर्मित पात्रों को बनाने और पात्रों में बनने वाले अलंकरण, डिजाइन व कलात्मक रूप देने के लिए इसमें जिस उपकरण का प्रयोग किया जाता है उसमें ऑफर, छोटे बड़े हथौड़े, घन, सब्बल, काती, संड़ासी, ऐन, पंखा, चीड़ को लकड़ी के छिल्के आदि है। ताम्र पत्रों को साँचे और ठप्पे द्वारा बनाया जाता है। ताम्रशिल्प से बनी वस्तुएँ यहाँ की लोकसंस्कृति को अनेक रूपों में दर्शाती है।

टम्टा समुदाय के लोग घरेलू कार्यों में प्रयुक्त होने वाले बर्तन जैसे गागर, पराद, लोटा, तौला, तौली, जग, वाटर, फिल्टर आदि पात्रों का निर्माण करते है। जिनमें सुन्दर–सुन्दर आकृतियाँ उकेरी जाती है स्वास्तिक, ओम, बेल–बूटे, पशु–पक्षी आदि को पात्रों में कारीगरों द्वारा उकेरा जाता है।

इनके द्वारा बनाये जाने वाले घरेलू पात्रों का वर्णन निम्नलिखित है–

लोटा– ताम्र निर्मित यह पात्र पानी पीने के कार्य में लाया जाता है इस पात्र से पानी पीना स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अच्छा है। इस पात्र को पानी पीने के लिए शुद्ध और साफ माना जाता है। कई परिवार लोटे से भी सूर्य को जल चढ़ाते है और शिवंलिग में भी जल चढ़ाया जाता है। इसमें भी प्रतीकात्मक व देव प्रतिमाएँ उकेरी जाती है।

---

* शोधार्थी, चित्रकला विभाग, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा

गगरी– मुख्यतः गगरी को पानी भरने हेतू प्रयोग किया जाता है जिसे अल्मोड़ा जनपद में 'फौला' भी कहा जाता है। इस पात्र का प्रयोग शादी–ब्याह के समय कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष को भेंट स्वरूप दी जाती हैं। गगरी को शिव शक्ति के ऊपर भी लगाया जाता है जिससे पानी नीचे रखे शिवलिंग में गिरता है। टम्टा समुदाय द्वारा बनने वाला यह पात्र तीन भागों में जुड़ा होता है। इसका निचला भाग गोल और चौड़ा होता है। निचले भाग से मध्य भाग तक छः अगुंल का होता है और मध्य भाग से ऊपरी गले तक एक कुन तक होता है। गगरी को पकड़ने के लिए इसमें एक गोल मुनड़ा लगाया जाता है जो गगरी में बने अकाशा से जुड़ा होता है। गगरी में कारीगरों द्वारा बड़ी सुन्दर व महिन ढंग से चित्रों को उकेरा जाता है जिसमें चम्पाकली, मोहरे, बेल–बूटे आदि बनाये जाते है।

परात– परात दो प्रकार के बनाये जाते है एक मुनड़े वाला और दूसरा मुनड़े रहित निर्मित किये जाते है। परात हल्के व भारी दोनों प्रकार के बनाये जाते है। परात का प्रयोग आटा गूथने के लिए किया जाता है।

और शादी ब्याह में वर–वधु को हल्दी लगाने के लिए, बच्चों को स्नान कराने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। ज्यादा से ज्यादा ताम्र निर्मित परात 10 किलो या उससे अधिक की बनाई जाती है। ग्राहक के पसंद के अनुरुप ही तैयार किया जाता है। इस पात्र में भी चम्पाकली या सूर्यकुण्ड बनाये जाते हैं।

तौला– इस पात्र में शादी–ब्याह, संस्कारों में खाना बनाया जाता है। यह पात्र बहुत बड़ा होता है। इस पात्र में लगभग 18, 19 नाली भोजन बनाया जाता है। इसमें दो मुनड़े लगे होते है। अब ऐलुमिनियम, स्टील के बर्तन आने के बाद इस पात्र को टम्टा समुदाय द्वारा ऑर्डर में ही बनाते है। इस पात्र का प्रयोग अब ग्रामीण क्षेत्रों में ही होता है।

वाटर फिल्टर– ताम्र द्वारा बना यह पात्र पानी रखने के काम आता है। इसमें एक टोटी लगी होती है जिससे पानी लिया जाता है। यह पात्र दो भागों में बटाँ होता है इसे एक के ऊपर एक रखा जाता है। ऊपर वाले में पानी भरा जाता है और छन कर नीचे वाले पात्र में जाता है। इस पात्र में कलात्मक रूप से पशु–पक्षी, बेल–बूटे, रेखाएँ आदि, आकृतियाँ बनाई जाती हैं।

इसी तरह धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले पात्र जो बड़े ही कलात्मक व सुन्दर बनाये जाते है इन पात्रों में कारीगरों द्वारा महीन ढंग से चित्र आकृतियाँ उकेरी जाती है। जिसमें गणेश, शिव, ओम, स्वास्तिक, फूल–पत्तियाँ, सर्प, चाँद–तारे, रेखाएँ आदि धार्मिक पात्रों में बनी करीगरी देखते ही बनती है।

धार्मिक पात्रों का वर्णन निम्निलिखित है–

आचमनी– ताँबे से निर्मित यह धार्मिक पात्र चम्मच की आकृति लिये हुए है। इसका प्रयोग आचमन के लिए किया जाता है। इस चम्मचनुमा पात्र का आगे का भाग गोलाई लिये हुए है जिससे आचमन के समय पानी लिया जाता है और इसका पिछला भाग जो सर्प की आकृति लिये हुए है जिसे कलात्मक रूप दिया गया है। आचमनी के आगे के भाग से पिछले भाग तक के बीचों बीच में अनेक आकृतियाँ उकेरी जाती है जिसमें ओम, स्वास्तिक और अनेक प्रकार के डिजाइन इस पात्र में उकेरे जाते है।

कलश– कलश एक छोटा पात्र है जो गागर के तरह ही दिखता है। इस पात्र का प्रयोग शादी–ब्याह, धार्मिक कर्मकाण्डों और मन्दिरों में होता है। कलश को देवालयों में शिवलिंग के ऊपर स्थापित किया जाता है जिसमें एक छोटा छेद बनाकर पानी भर दिया जाता है और वह पानी बूँद–बूँद करके शिंवलिग में चढ़ता है। यह पात्र शादी–ब्याह में कन्या पक्ष की और से पूजा स्थल में रखा जाता है जिसमें आम के पत्ते इसमें

रखे जाते हैं। इस पात्र में बहुत ही सुन्दर–सुन्दर कलाकृति कारीगरों द्वारा उकेरी जाती है। जिसमें ज्यामितीय अलंकरण, देव–देवी प्रतिमाएँ, प्रतीकात्मक चित्रों को उभार कर उकेरा जाता है।

कुनि– थालीनुमा यह पात्र देवी–देवताओं की मूर्तियों को स्नान कराने के लिए इस पात्र का प्रयोग किया जाता है। इस पात्र को 'कुण्डी' भी कहा जाता है। कुनि पात्र के बीचों–बीच मध्य भाग में अष्ट कमल बनाया जाता है।

पंचपात्र– यह पात्र एक छोटे से लोटे की आकृति लिये हुए है जो पूजा–पाठ व धार्मिक कार्यों में काम आता है। इस पात्र में आचमन के लिए पानी रखा जाता है जिससे आचमन किया जाता है। जिसे ताम्र द्वारा निर्मित किया जाता है।

शिव शक्ति– शिवालायों में ताम्र से निर्मित शिव–शक्ति की पूजा की जाती है। इस पात्र में चम्पाकली, नाग प्रतिमाएँ, आदि इस शिव–शक्ति में उकेर व बनाये जाते है शिव–शक्ति को अल्मोड़ा में ज्यादा ऑर्डर में बनाया जाता है। शिव–शक्ति में शिवलिंग बनाकर उसमें शिव की तिसरी आँख को भी दर्शाया जाता है जो टम्टा समुदाय के लोग बड़े ही महीन कार्य करके चित्रों को ताम्रधातु में उकेरते है।

इसी तरह धार्मिक पात्रों में अर्ध्य, दीया, त्रिशूल, हवन–कुण्ड, नाग प्रतिमाँ, मूर्तियाँ आदि टम्टा समुदायों के द्वारा बनाये जाते है। ऐसे ही अल्मोड़ा जनपद के धार्मिक कार्यों, शादी–ब्याह, व पर्व–उत्सवों में प्रयोग होने वाले ताम्रनिर्मित वाद्ययंत्र जैसे ढोल, दमुवा, रणासिंघा, तुरी, नागफनी आदि वाद्य यंत्र जिसे अल्मोड़ा जनपद के टम्टा समुदाय के कारीगरों द्वारा बनाया जाता है। जिसे अल्मोड़ा के सभी शुभ कार्यों में इन्हें प्रयोग किया जाता है।

पहले अल्मोड़ा जनपद में ताँबे से निर्मित बर्तनों का प्रयोग होता था लेकिन मशीनीकरण के कारण अब ऐल्यूमिनियम, स्टील के बर्तनों का चलन हो गया और धीरे–धीरे घरेलू पात्र विलुप्त होते जा रहे है लेकिन धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त आज भी ताम्र निर्मित पात्र का प्रयोग ज्यादा से ज्यादा करा जाता है।

ताम्रशिल्प को सुरक्षित व जीवित रखने का काम अल्मोड़ा जनपद के कारीगरों टम्टा समुदाय द्वारा रखा जाता है। जिन्हें आज भी संजोये हुए है। इन्हीं ताम्र शिल्प के कार्यों से अल्मोड़ा जनपद को पहचाना जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. बिष्ट, शेर सिंह – 1991, कुमाऊँ हिमालय : समाज एवं संस्कृति पृष्ठ संख्या– 14 अंकित प्रकाशन चन्द्रावती कालोनी, हल्द्वानी
2. बलूनी, दिनेश चन्द्र – 2012, उत्तराखण्ड का एक जनपद अल्मोड़ा पृष्ठ संख्या– 35, बिनसर पब्लिशिंग कं0 देहरादून उत्तराखण्ड
3. नेगी, वी0डी0 एस0 – 2008, कुमाऊँ (मध्य हिमालय) समाज एवं संस्कृति 12वीं से प्रभा नीर, 18वीं शताब्दी पृष्ठ संख्या– 09 मल्लिका बुक्स, दिल्ली।

भूस्खलन आपदा एवं समाधान (उत्तराखण्ड के संदर्भ में)

डॉ0 संगीता भट्ट*

स्थलमण्डल, जलमण्डल एवं वायुमण्डल का योग है, हमारा चारों ओर फैला वातावरण जिसमें जीवन व्याप्त है। तीनों मण्डलों के प्राकृतिक संतुलन से ही पर्यावरण का जन्म हुआ है। पर्यावरण को प्रभावित तो मानव कर सकता है, किन्तु उसके कहर को रोक नहीं सकता अपितु मानव अपने प्रयत्नों से कम करने की कोशिश जरूर करता है।

1803 के बाद उत्तराखण्ड में महाप्रलय कभी नहीं आया था। अब तक के उतार–चढ़ाव का केन्द्र भगीरथी अलकनन्दा नहीं रही। पिण्डर, मंदाकिनी, काली नदी ने भी रौद्र रूप दिखा दिया। वर्षा का जल वनस्पति विहिन पहाड़ों में भूस्खलन का बढ़ावा दे रहा है। प्रतिदिन तेजगति भूस्खलन सूखते जल स्त्रोत तथा भूक्षरण इस क्षेत्र में बढ़ रहे हैं। हिमालय क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों एवं हिमनदों से परिपूर्ण क्षेत्र है। सभी सतत् वाहिनी नदियाँ (भारत में) का उदगम स्थल भी हिमालय क्षेत्र ही है। पूरे विश्व को अपनी प्राकृतिक छवि से इसने आकर्षित किया है। भारत को सुरक्षा प्रदान करने वाला हिमालय दशकों से स्वयं आपदाओं से असुरक्षित हो रहा है। 2013 की अतिवृष्टि और उससे आई बाढ़ ने बस्तियों एवं सड़कों को तबाह कर दिया था, जो ऐसी तबाही थी इससे पहले उत्तराखण्ड में कभी नहीं आयी थी। (विशेषकर केदारनाथ क्षेत्र में)

उत्तराखण्ड राज्य अपेक्षाकृत दूरस्थ और वन पर्वत श्रेणियों तथा बर्फ से ढका हुआ क्षेत्र है। यहाँ कई तीर्थ स्थलों के साथ ही देश–विदेश के पर्यटकों के आर्कशण हेतु प्राकृति दृश्य भी विद्यमान हैं।

चमोली में (मई महीने) 2017 को हाथी पहाड़ से बड़ी–बड़ी चट्टाने राजमार्ग पर गिरी और रास्ता बन्द हो गया। भूस्खलन से 27 मौंते और सम्बन्धित खबरे प्रतिदिन सुर्खियों में बने समाचारों से भयावह स्थिति को स्पश्ट कर रही है। उत्तराखण्ड में मानसून के तेवर भारी पड़ते ही दरकती पहाड़ियों से दर्जनों घर भूस्खलन से प्रभावित होने लगते हैं। ऐसा अनुमान है जापान इंटरनेशनल कोआपरेशन एजेंसी (जायका) का तकनीकी ऑपरेशन उत्तराखण्ड भूस्खलन को रोकने में मदद करेगी उत्तराखण्ड में लैण्ड स्लाइड से गंगोत्री, केदारनाथ–बद्रीनाथ से जुड़ने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग बधित होने के साथ–साथ नदियों का जलस्तर भी बढ़ा। (अलकनन्दा, भगीरथी आदि)

2013 जून में उत्तराखण्ड में हुए भूस्लखन से नदियों और झीलों के तट ध्वस्त हो गये और लगभग 6000 लोगों की जान गई थी। वैज्ञानिकों की राय है कि भूस्खलन एक प्राकृतिक घटना है जो गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के कारण चट्टानों, मिट्टी आदि में अपने स्थान से नीचे की ओर सरकने के कारण घटित होती है। ऐसी आपदाएं आमतौर पर जून माह से सितम्बर माह के बीच आती है। लगातार निर्माण कार्य, वन कटाव के कारण कमजोर पड़ी धरती की सतह बारिश से कमजोर हो जाती है। भारत

* एसोसिएट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून

के करीब 15 प्रतिशत भूमि पर भूस्खलन का खतरा मंडराता रहता है। (भारतीय सर्वेक्षण के अनुसार) आपदा प्रबन्धन प्राधिकरण ने हिमालयी राज्यों को सर्वाधिक भूस्खलन संभावित क्षेत्रों में रखा है।

हिमालयी क्षेत्रों में खासकर रमणीय प्राकृतिक छटा वाले क्षेत्रों में भूस्खलन की आशंका सबसे ज्यादा रहती है। हिमालय का निर्माण भारतीय और यूरोपियाई प्लेटों की जोरदार टक्कर के कारण हुआ है। भारतीय प्लेट के उभार से चट्टानों पर लगातार भारी दबाव बना रहता है। इससे मिट्टी भुर–भुरी और कमजोर होने से भूकम्पों व भूस्खलनों की संभावना बड़ा देती है। खुरदरी सतह युक्त पहाड़ी ढाल भूकम्प का प्रबल संभावना लिए होते हैं। साथ ही उस पर तेज बारिश हिमालयी क्षेत्र में भूस्खलन के खतरे को तीव्र कर देती है। भूवैज्ञानिक मानते हैं कि हिमालय क्षेत्र में विशेश सर्तकता की आवश्यकता है। ये क्षे.त्र परिस्थितिक लिहाजे से बेहद संवेदनशील है। इसके लिए यहाँ पर वनों की कटाई और अनावश्यक निर्माण कार्यों को प्रतिबन्धित करना होगा। कोमल (चट्टानी) क्षेत्रों में सड़क निर्माण कार्य खतरनाक है क्यों कि सड़क के निर्माण के लिए चट्टानों को तोड़ना (विस्फोट द्वारा) पड़ता है, जिससे चट्टानों और मिट्टी के बीच का संतुलन बिखर जाता है। पूर्व चेतावनी के द्वारा खतरे को कम किया जा सकता है। जल निकासी का इन्तजाम भी खस्ताहाल है। इससे जान–माल की क्षति ज्यादा होता है। विकास के किसी कार्य के लिए (पहाड़ी–सतह को) समतल करने के लिए इस्तेमाल भारी मशीने चट्टानों के खिसकने की संभावनाओं को प्रबल कर देती है। भारत सरकार ने ऐसे (भूस्खलन) क्षेत्रों को लैंडस्लाइड हेजार्ड जोनेशन नाम दिया है ऐसो क्षेत्रों की समयबद्ध तरीके में दिशा निर्देशों को पूरा करने के लिए गैर–नियामक व कई नियमक रूपरेखाएं तय की गई हैं। ऐसी स्थिति में दरकते पहाड़ों पर थमती जिंदगी की रफ्तार स्पष्ट गवाह है कि प्रकृति के प्रकोप किस तरह मानव समाज को प्रभावित कर रहा है। उत्तराखण्ड में बदरीनाथ हाइवे पर सड़कों के चौड़ीकरण से लामबगड़, क्षेत्रपाल, अजथला, भनेरीपाणी, जोगीधारा आदि क्षेत्र भूस्खलन की दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्र घोषित है। इसी तरह केदारघाटी की लाइफलाइन रूद्रप्रयाग गौराकुंड की स्थिति बदहाल है। बड़े क्षेत्र में भूस्खलन जोन सक्रिय है साथ ही गंगोत्री यमनोत्री राजमार्ग पर भी कई डोंजर जोन (चम्बा से लेकर चिन्यालीसौड तक) एवं ऋषिकेश से गंगोत्री'(प्लासड़ा, पुरानी चुंगी बागड़धार, भिलुखाला, ताछला बेमुड़ा) तक कच्ची पहाड़ियों से मलवा व पत्थर सड़क पर गिर रहे हैं, ये स्थिति तो (ऑल वेदर रोड चौड़ीकरण) के पश्चात राष्ट्रीय राजमार्गों व समरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मार्गों की है, बाकी गांवों को जोड़ने वाले छोटे–छोटे पहाड़ी क्षेत्र (मार्ग) भी भूस्खलन की चपेट में रहते ही है।

समाधान

बारिश के पानी को ढालन से दूर रखा जाए, नालियों की नियमित रूप से सफाई व प्लास्टिक कचरे की सफाई आदि। सर्तक समाज भूस्खलन संकट के चेतावनी संकेतों को समझकर चुनौती से निपटने में अहम योग दे सकते हैं।

जैसे अधिक वृक्ष (जिसकी जड़े मिट्टी पर पकड़ बनाती हो) चट्टानों के गिरने के संभावित क्षेत्रों की पहचान, दरारों की निगरानी। गहरी जड़ो वाले पेड़ लगाना, सेंसर लगाना (इस पर हिमाचल के काम शुरु हो गया है) इस क्रम में ऐसे क्षेत्रों की पहचान करना होगा जहाँ चट्टानों के दरकरने, खिसकने से मिट्टी पत्थर गिरने का भय बना रहता है। मिट्टी के कटाव को रोकने के पाने में समर्थ पेड (गहरी जड़ो

वाले) को लगाना होगा। सेंसर के द्वारा जान–माल के खतरे को पूर्व सूचना मिलने के कारण कम किया जा सकता है। इसके कारण स्थानीय बस्ती को खाली करने में मदद मिलेगी। (मानसून आने पर जो घर (बस्तीयाँ) भूस्खलन की चपेट में आ रहे हैं) ये नहीं कहा जा सकता कि पूर्व में प्रयास नहीं हुए किन्तु सफलता नहीं मिल पाई। लगातार वैज्ञानिक तरीकों के साथ प्रयासरत रहने से ही संभव है कि भूस्खलन से सैंकडों का जन धन नुकसान कम हो पाए, उत्तर भारत में भूस्खलन बड़ी चुनौती बन रही है दिन–प्रतिदिन से आपदाऐं स्थानीय लोगों, पर्यटकों और सरकार सबके लिए कश्टप्रद हो रही है।

खनन, हाइड्रोप्रोजेक्ट, रोड कन्ट्रक्शन ये सब मानव निर्मित हैं जो भूस्खलन को भयवह बना रहे है। नवीन पर्वत के कारण मिट्टी कमजोर है। बढ़ती यातायात व्यवस्था इस क्षेत्र में आपदा के लिए बढ़ा प्रश्न बना है। साथ ही बिना योजना के रोड़ बनाना (आई.आई.टी. रूडकी) ने बताया है कि ये खतरा बड़ा रहे हैं। भूस्खलन पहाड़ी क्षेत्रों की बड़ी आपदा है। बाँध व नदियों का बन्द जाना नदी रास्ते का रूक जाना व झीलों का भर जाना (जल भार) बढ़ा देता है। और परिणाम स्वरूप बड़े भूस्खलन का जन्म।

सरकार द्वारा आपदा राहत/प्रबन्धन के लिए जो कार्यक्रम है। वे सही तरीके से लागू नहीं किए जा रहे हैं। जिसमें सम्बन्धित विभागों की सक्रिय सहभागिता एवं संवेदनशील गावों के निवासियों की जागरूकता व सहयोग आवश्यक है। यह सही है कि प्राकृतिक आपदा को रोका तो नहीं जा सकता किन्तु दुष्प्रभावों को सक्रियता, नामित प्रबन्धन, सहयोग व जागरूकता से कम अवश्य किया जा सकता है। प्रत्येक ग्राम सभा स्तर पर आपदा सहायता दल बनाए जाऐं उन्हें बचाव सम्बन्धित प्रशिक्षण दिए जाएं। स्थानीय निवासियों को आपदा के कारणों व उसके बचाव के उपाय/तरीके सिखाए जाएँ। इसके लिए महिलाओं की सक्रियता बहुत बड़ी भूमिका निभा सकती है। जैसा कि विदित है कि पर्वतीय कार्यव्यवस्था में महिलाएं मेरुदण्ड का काम कर ही रही हैं।

कुदरत का सबसे अधिक कहर की वजह वैसे तो वर्षा को सबसे अधिक जिम्मेदार ठहराया जाता है। किन्तु पर्यावरणविदों द्वारा अवैज्ञानिक विकासात्मक गतिविधियों, अनियमित शैली में निर्मित सड़कें, नदियों के नाजुक किनारों और 70 से अधिक जलविद्युत परियोजनाऐं नव निर्मित होटलों को जिम्मेदार ठहराया गया है। जिस पर समय रहते नियंत्रण आवश्यक है।

वैज्ञानिक विकास के चरम सीमा पर होने के बावजूद भी मूलभूत आवश्यकताओं (पानी, मिट्टी, हवा) के निर्माण में मानव आज भी अक्षम है। ऐसी घटनाऐं ये संदेश देती हैं कि तकनीकी विकास के पश्चात् भी प्राकृतिक घटनाऐं मानव नियंत्रण व पूर्वानुमान से परे है किन्तु बेहतर नियोजन एवं प्रबन्धन से आपदाओं के नुकसान को कम करने के प्रयास किये जा सकते हैं। समय रहते मनुष्य को समझ लेना अति आवश्यक हो गया है कि मनुष्य का अस्तित्व उसके स्वयं के क्रियाकलापों से खतरे में जा रहा है।

जमीनी योजनाएं की वनस्पति विहिन आवरण नंगी वीरान धरती को बचाने के लिए बड़ी आवश्यकता है। भूस्खलन क्षेत्रों पर पूर्व में ही नजर रखना जरूरी है। बढ़ावा देने वाली गतिविधियों को तुरंत रोकना अतिआवश्यक है। मोटरमार्ग के अंधा–धुंध निर्माण भी पहाड़ों में सबसे बड़े बड़े खतरे को बढ़ा रहा है। वैज्ञानिक व परम्परागत तरीकों को प्रयोगिक रूप देना होगा। मोटर मार्ग के मलबे को

डंपिंग जोन में एकत्रित करना भी जरूरी है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में सरकार द्वारा दी गई गाइड लाइन्स का पालन सख्ती से करना होगा। लैंडस्लाइड युक्त संवेदनशील क्षेत्रों की पूण जानकारी होनी चाहिए, सामाजिक स्तर पर एक व्यापक नेटवर्क होना चाहिए। खतरों से आगह करने के लिए वर्षा की मारक क्षमता कम करने के लिए कस्बों, नगरों, गावों में जल बहाव की उचित व्यवस्था भी होनी जरूरी है।

सामाजिक स्तर पर समय से सजग होकर शायद कम कर सकते है उत्तराखण्ड की भयावह (भूस्खलन) आपदा को। जिसमें सामाजिक भागीदारी भी वैज्ञानिक तकनीकी के साथ–साथ जरूरी हो जाती हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. वातावरण भूगोल डा. सविन्द्र सिंह
2. अमर उजाला 'दैनिक समाचार पत्र'

जहाँगीर कालीन राजनीतिक परिदृश्य

सूरज मिश्रा*

अनेक सन्तों एवं फकीरों की मिन्नतों तथा फतेहपुर सीकरी के शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से 30 अगस्त 1569 ई. में जहाँगीर का जन्म हुआ। जहाँगीर के बचपन का नाम सलीम था।

अकबर ने सलीम की शिक्षा का उचित प्रबंध किया, उसे फारसी तुर्की, अरबी, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा देने के लिऐ सुयोग्य आचार्य नियुक्त किए गए। इन सब के अतिरिक्त जहाँगीर ने सैनिक शिक्षा भी प्राप्त की।

अतः सलीम का लालन–पालन अत्यधिक लाड़ व प्यार से किया गया था। इस कारण सलीम में अल्पायु में शराब व अन्य र्दुव्यसन आ गये थे। अपने पिता के अन्तिम दिनों में सलीम ने अकबर की जम कर खिलाफत की लेकिन अन्ततः बाप व बेटे में समझौता हो गया और अकबर ने सलीम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया।

अकबर की मृत्यु के ठीक आठवें दिन बाद 3 नवम्बर, 1605 ई. को जहाँगीर का आगरा के किले में राज्याभिषेक हुआ और उसने ''नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी'' की उपाधि धारण कर शासन प्रबंध संभाला।

अकबर ने जिस साम्राज्य विस्तार की परंपरा को आरंभ किया था जहाँगीर ने उस परम्परा के अनुकूल ही कार्य करने का निर्णय लिया। अकबर के समय में हीं, कुछ छोटे–छोटे कार्य केवल खुर्रम पर छोड़ दिये। खुर्रम ने राणा अमर सिंह पर हर तरह से दवाब डाला उसके दवाबों के कारण मेवाड़ में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। अतः राणा अमरसिंह ने सरदारों के परामर्श पर मुगल शासन से संधी कर ली।

दक्षिण–भारत में जहाँगीर ने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। अकबर के समय में खानदेश और अहमदनगर राज्य के कुछ भागों को जीत लिया गया था परन्तु अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ था तथा बीजापुर और गोलकुण्डा पूर्णतया स्वतन्त्र थे। जहाँगीर के समय में उनको जीतने या आधिपत्य में लेने का कार्य पुनः आरम्भ किया गया।

उस समय मुगलों की दक्षिण–भारत की विजय में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर ने प्रस्तुत की। मौलिक अम्बर अपने समय के योग्यतम व्यक्तियों में से था।। उसने अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की और अहमदनगर–राज्य के उन प्रदेशों को, जो मुगल–आधिपत्य में चले गये थे, मुगलों से छीनने में भाग लिया। 1601–1602 ई. में मलिक अम्बर ने मण्डेर में सबसे पहली बार मुगलों का प्रत्यक्ष रूप से कड़ा मुकाबला किया जिसमें वह बुरी तरह से घायल हुआ परन्तु जीवित बच गया।

सन्दर्भ

1. बर्नियर, ट्रेवल्स इन मुगल एम्पायर, सम्पादक–ए–कांसिटेबल, लन्दन, 1914
2. लईक अहमद, मुगल कालीन भारत, इलाहाबाद, 1992
3. बाबर, बाबरनामा, अनुवाद–ए.एस. ब्रेवरीज, लन्दन, 1922,
4. डॉ. राधाकृश्ण वशिश्ट, मेवाड़ चित्रांकन परम्परा, दिल्ली, 1992
5. चार्ल्स स्टुअर्ट, (अनु.), तारीख–ए–हुमाँयूशाही–ए–प्राईवेट मेमोरी ऑफ हुमाँयू, लन्दन, 1832

* शोध छात्र, (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

प्राचीन नहर का इतिहास एवं आधुनिक स्वेज नहर का निर्माण एवं मिस्र का आर्थिक योगदान

डॉ0 गणेश चन्द्र मिश्र*

भूमध्यसागर को लाल सागर से जोड़ने के लिए बनाए गए जल मार्गो का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितने कि मिस्र के पिरामिड। ईसा से 2,000 वर्ष पूर्व इस जल मार्ग की आवश्यकता और इससे होने वाली सुविधाएँ पूर्णतः जान ली गई थीं। ईसा के 2,000 साल पश्चात् इस जल मार्ग के महत्व को अब और भी भली–भाँति जाना जा रहा है। आज यह जल मार्ग पूर्व और पश्चिम को जोड़ने की सर्वाधिक नाजुक परन्तु महत्वपूर्ण कड़ी है।

परम्पराओं के अनुसार फराह राजवंश के 12वें बादशाह सिसास्ट्रिश ने सर्वप्रथम इस जल मार्ग के निर्माण को अपने हाथों में लिया और उसके एक हजार साल बाद भी यह जल मार्ग यातायात के लिए खुला हुआ था और फराह की नहर के नाम से जाना जाता था। नील नदी की सहायक शाखा बुबेस्टिश नामक शहर के उत्तर से निकलकर ''तुमिलात'' की हरी–भरी घाटी से पूर्व की तरफ बहती हुई यह ''बिटर झील'' में मिलती थी और वहाँ से होती हुई ''क्लाइसमा'' बन्दरगाह के पास एक नहर द्वारा लाल सागर से मिल जाती थी।

कालान्तर में राजनीतिक थपेड़ों से इसके रख–रखाव में कमी आयी और ई0पू0 7वीं शताब्दी में यह नहर रेत से पट गई। ई0पू0 612 ई0 में ''नैको'' नामक फराह ने जोशिह नामक ''जुवाह'' के राजा को ''मैगिडो'' नामक स्थान पर लड़ाई में परास्त किया और पुनः इस नहर को खुदवाने का कार्य अपने हाथों में ले लिया। कहते हैं कि उसने एक लाख बीस हजार गुलामों को इस निर्माण कार्य में लगाया था परन्तु जब उसे यह बताया गया कि इससे तो बर्बरों के आक्रमण का रास्ता खुल जाएगा, उसने नहर को खुदवाने का अपना इरादा हमेशा के लिए छोड़ दिया। उसको दी गई चेतावनी एक शताब्दी बाद वास्तव में सही साबित हुई जबकि ईरान के बादशाह ''डेरिअस हिस्टेप्स'' ने 521 शताब्दी ई0पू0 में मिस्र को जीत लिया। उसने इस नहर को खुदवाकर चौड़ा किया और एक बार फिर चालू किया परन्तु उसने कुछ कारणों से नहर का अन्तिम भाग बन्द करवा दिया था।[2] उसके उत्तराधिकारी ''जीरेक्स हैरोडोट्स'' ने उसे पुनः खुलवाया। इस प्रकार यह जल मार्ग पुनः यातायात के लिए खुल गया। उस समय यह जल मार्ग चार दिनों में पार किया जाता था और उसमें एक साथ दो बड़ी नावें चल सकती थीं।

टोलमी ने ईसा पूर्व 286 ई0 में इसे पुनः ठीक करवाया और इसके रास्ते में कुछ बदलाव किया। इसका एक सिरा आधुनिक स्वेज़ शहर के नज़दीक ''आरसिनोय'' के पास था जिसमें दो बड़े फाटक भी लगे हुए थे, इस डर से कि कहीं लाल सागर का पानी भू–मध्यसागर की ओर न बहने लगे जिससे पूरा मिस्र ही डूब जाय। इसी कारण भू–मध्य सागर को लाल सागर से सीधी नहर द्वारा जोड़ने का प्रस्ताव क्रियान्वित नहीं किया गया। आश्चर्य की बात यह है कि समुद्री धरातलों के अन्तर की यह बात 19वीं शताब्दी तक सही मानी जाती रही जिसके कारण भू–मध्यसागर को लाल सागर से जोड़ने के लिए सीधे जल मार्ग को बनाने के कार्य को कभी हाथ में नहीं लिया जा सका।[3]

रोम ने जब मिस्र पर विजय हासिल की तो कहते हैं कि ''क्लियोपेट्रा'' ने इसी नहर के द्वारा अपना

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, अरब संस्कृति विभाग, बी.एस.एन.वी. पी.जी. कालेज, लखनऊ

जहाजी बेड़ा एक सागर से दूसरे सागर में पहुँचाने की नाकाम कोशिश की थी। उस समय यह नहर 100 मील लम्बी, 70 फिट चौड़ी और 10–15 फिट गहरी थी।[4] ट्राजन (98–117) ने इस पुरानी नहर को साफ करवाया और इसमें अधिक पानी की पूर्ति के लिए बेबीलोन (कैरो) के निकट नील नदी से जोड़ा। यह नहर ईसा की तीसरी शताब्दी तक काम में आती रही और पुनः पट गई।[5]

7वीं शताब्दी में ख़लीफा उमर ने जब मिस्र को जीता तो ''अमू'' नामक उसके गवर्नर ने 641–642 ई0 में पुनः इस रास्ते को यातायात के लिए खोला। 8वीं शताब्दी तक यह नहर लाभदायक ढंग से यातायात की सेवा करती रही।[6] परन्तु 776 ई0 में मक्का और मदीना के पवित्र शहरों में हुए विद्रोह को देखते हुए अब्बासी ख़लीफा अल–मन्सूर के हुक्म से इसे पुनः पाट दिया गया।[7] इस प्रकार यह जल मार्ग आने वाले 1,000 वर्षों के लिए बन्द हो गया।

1453 ई0 में तुर्कों ने कुस्तुनतुनियां पर विजय प्राप्त की जिससे यूरोप का पूर्वी देशों से खुश्की के रास्ते का व्यापार समाप्त हो गया। तुर्की नहीं चाहता था कि यूरोप के देशों का पूरब के देशों से सीधा सम्पर्क स्थापित रहे। इससे यूरोप के राजघरानों में खलबली मच गई। क्योंकि यह राजघराने भारतवर्ष से लाए गए कपड़ों, मसालों, कीमती पत्थर, चन्दन जैसी विलासिता की सामग्रियों के आदी हो चुके थे। अतः इन राजघरानों ने भारतवर्ष के नए जल मार्गों के ढूंढ़ने के लिए होने वाले अभियानों को सहायता प्रदान करना शुरू कर दिया। इस सिलसिले में पृथ्वी के गोल होने की जानकारी और कुतुबनुमा की सहायता से कोलम्बस प्रशान्त महासागर को पार करके 1492 ई0 में अमेरिका जा पहुँचा जिसे भूल से उसने हिन्दुस्तान समझा।[8]

उत्तर और दक्षिणी अमेरिका से लूट कर लाए गए सोने और चांदी से स्पेन मालामाल हो रहा था। फलस्वरूप इन अभियानों में पुर्तगाल और स्पेन दोनों देश जोर–शोर से लगे थे। अतः इन अभियानों से पूर्तगालियों और स्पेन की स्पर्धा को बचाने के लिए एक घोषणा–पत्र (बुल) जारी किया जिसके अनुसार अजोंस से 300 मील की दूरी पर देशान्तर के पश्चिम का भाग स्पेन का और पूरब का भाग पुर्तगाल का प्रभाव क्षेत्र मान लिया गया। अतः पुर्तगाल के लोग अफ्रीका का चक्कर लगाकर हिन्दुस्तान पहुँचने के प्रयत्नों में लगे हुए थे। 1445 को पुर्तगाली ''बर्दे के अन्तरीप'', 1486 ई0 में अफ्रीका के ध्रुव दक्षिण की नोंक जिसे ''केप ऑफ गुड होप'' के नाम से जाना जाता है और 1497 ई0 में तो वास्को–डि–गामा नामक पुर्तगाली नाविक भारतवर्ष के मालाबार तट पर जमोरियन की रियासत कालीकट पहुँच गया। 1510 ई0 में वह पुनः गोवा पहुँचे, 1511 ई0 में मलाया प्रायदीप और 1576 ई0 में चीन।[9] यही नहीं 1501 ई0 में ही उन्होंने अरब सागर में अरब और तुर्की के व्यापारियों के जहाजों का चलना भी नामुमकिन कर दिया। बाद में इंलैण्ड और हालैण्ड भी अपनी–अपनी कम्पनियाँ बनाकर पूर्वी देशों के व्यापार में संलग्न हो गए। इस नए जल मार्ग की तैयारी से भू–मध्यसागर बन्दरगाहों, वैनिस, मर्सिलेस और जेनेवा से होने वाला विशाल व्यवसाय जो जल मार्ग द्वारा भू–मध्यसागर से कैरो, कैरो से स्वेज़ तक खुश्की के रास्ते से लाल सागर पहुँच जाते थे, लगभग बन्द हो गया क्योंकि एक तो इस मार्ग में ममलूकों द्वारा अत्यधिक लूटपाट होती थी। दूसरी अत्यधिक चुंगी वसूल की जाती थी, तीसरे माल को बार–बार जहाज से उतारना और चढ़ाना पड़ता था। जबकि केप का मार्ग चक्करदार होने के बावजूद सुरक्षित और तेज़ मौसमी हवाओं के कारण आसान था।

भू–मध्यसागरीय बन्दरगाहों से व्यापार बन्द हो जाने पर वहाँ के लोगों में तुरन्त ही भू–मध्यसागर और लाल सागर को नहर द्वारा जोड़ने की बात पर विचार–विमर्श शुरू हो गया। इस जल मार्ग के खुलने में तुर्की भी दिलचस्पी रखता था जिससे कि उसका जहाजी बेड़ा भू'मध्य सागर से लाल सागर पहुँच सके

और लाल सागर द्वारा होने वाला व्यापार जो पुर्तगालियों द्वारा बन्द कर दिया गया था पुनः होने लगे। अली बे ने भू–मध्यसागर – लालसागर को जोड़कर नहर बनाने का प्रस्ताव दिया जिससे कि तुर्की अरब सागर में पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। पोप भी इस मार्ग को खोलने का समर्थन करता था जिससे कि उसके मिशनरी भारत, पूर्वी देश और चीन तक शीघ्रता एवं सुरक्षापूर्वक धर्म प्रचार के लिए पहुँच सकें जबकि केप मार्ग द्वारा जाने से उन्हें पूरे अफ्रीका का चक्कर लगाना पड़ता था।[10]

फ्रान्सीसियों की दिलचस्पी दोतरफी थी – एक तरफ तो उसके अंटलाटिक महासागर वाले बन्दरगाह केप रूट जाने के लिए मार्ग पर पड़ने के कारण मालामाल हो रहे थे और इस मार्ग के व्यापार में यहां के व्यापारियों ने भी भाग लेना आरम्भ कर दिया। यही नहीं डूप्ले नामक व्यक्ति ने भारत जाकर दक्षिण भारत की रियासतों की आपसी लड़ाइयों में दखल देकर और उन्हें फ्रान्सीसी संरक्षक राज्य घोषित करके पूरे दक्षिण भारत में एक फ्रान्सीसी साम्राज्य ही कायम कर दिया।[11]

फ्रान्स में मसिलेस व्यापार पर आश्रित एक दूसरा समुदाय भी था। वह तुर्की और पोप की बात का समर्थन करते हुए इस्थुमस के पास एक जल मार्ग बनाने के लिए मांग करता था। बाद में इसमें सेन्ट साइमन के अनुयायी भी शामिल हो गए जो विशुद्ध मानवतावादी ढंग से स्वेज़ और पनामा की नहरों को बनाने की मांग कर रहे थे। 1746–1761 के 15 वर्षीय युद्ध में क्लाइव ने जोकि भारतवर्ष में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक कर्मचारी था, फ्रान्सीसियों को हरा दिया और उनको पाण्डुचेरी एवं चन्द्रनगर छोड़कर अपना पूरा साम्राज्य अंग्रेजों को दे देना पड़ा। फ्रान्सीसियों की भारतवर्ष में इस हार से फ्रान्स के राजनीतिक क्षेत्रों में उथल–पुथल मच गई तथा वहाँ के राजनीतिक क्षेत्रों में यह बात सर्वमान्य हो गई कि जब तक मिस्र पर फ्रान्सीसी प्रभाव नहीं बढ़ता एवं इस्थुमस के आर–पार जल मार्ग नहीं बनता तब तक इंग्लैण्ड के प्रभुत्व को न तो यूरोप में ही चुनौती दी जा सकती है और न एशिया के क्षेत्रों में। 1797 में फ्रान्स की सरकार ने बोनापार्ट को मिस्र के अभियान पर ही भेज दिया। 24 दिसम्बर, 1798 में वह मिस्र पहुँच गया और ममूलूकों को हराकर वहाँ से बोनापार्ट ने एक पत्र टेलीरेण्ड को लिखा – ''वह समय दूर नहीं है जबकि हमें यह समझ लेना होगा कि इंग्लैण्ड को नष्ट करने के लिए मिस्र पर अपना (फ्रान्सीसी) अधिकार एक अनिवार्यता है।[12]

बोनापार्ट के साथ गए हुए इन्जीनियरों एवं आर्मी के लोगों ने पुरानी नहर के अवशेष ढूंढ निकाले जोकि एक 20 मील लम्बी खाई के रूप में मौजूद थे। उसके साथ गए दल के लोगों ने दो तरह की समानान्तर योजनाएँ प्रस्तुत की – एक में तो नील नदी को लाल सागर से नहर द्वारा जोड़ने का प्रस्ताव था और दूसरी में स्थलडमरूमध्य के आर–पार सीधी नहर द्वारा भू–मध्यसागर को लाल सागर से जोड़ने की बात कही गयी थी। भू–मध्यसागर में इंग्लैण्ड का जहाजी बेड़ा अध्यधिक शक्तिशाली था। 1799 ई0 में नेल्सन के नेतृत्व में वह स्कन्दरिया के बन्दरगाह में घुस गया और फ्रान्सीसी बेड़े को तहस–नहस कर डाला। किसी तरह बचकर नेपोलियन लौट गया।[13] सन् 1802 में तो आर्मिया की संधि के अनुसार मिस्र, फ्रान्सीसियों को आटोमन साम्राज्य को वापस कर देना पड़ा।

1807 में तिलसिट की संधि में मोहम्मद अली ने अपने आपको मिस्र का खदीव (वाइसराय) घोषित कर दिया।[14] हालांकि सभी प्रशासनिक कार्यकलापों के लिए वह एक स्वतन्त्र शासक के समान था, केवल विदेशी मामलों में कुछ हद तक वह तुर्की के सुल्तान के मातहत था। इसके 40 वर्षीय शासन काल ने मिस्र को नवजीवन प्रदान किया।[15] इसके शासनकाल में ही मिस्र को आधुनिक बनाने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और निर्माण की तमाम योजनाएँ आरम्भ की। इसी समय तीन फ्रान्सीसी इन्जीनियरों ने सीधे स्वेज़ नहर

बनाने की बात की। लीनन्त बे ने तो 1841 में सीधे केनाल बनाने के लिए विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत कर दिया था जो कि आगे चलकर फर्दीनन्द–डी–लीसेप्स की योजना का आधार बना।[16] परन्तु मो0 अली इस तरह के जल मार्ग को मिस्र की प्रभुसत्ता के लिए हानिकारक समझता था। उसने एक बार एक अंग्रेज से कहा था कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं तुम भी आगे चलकर मिस्र पर कब्जा कर सकते हो। इस प्रकार उस समय ऐसी किसी योजना पर कार्य सम्भव न हो सका। इसी समय जार निकोलस प्रथम ने फ्रान्स के एम0 बरनाते नाम के राजदूत को चेतावनी देते हुए फरवरी, 1839 में कहा था कि–

''अंग्रेजों की आंख मिस्र पर लगी हुई है। यातायात के नए मार्ग को जोकि वह हिन्दुस्तान के लिए खोलना चाहते हैं, यह देश (मिस्र) उनके लिए आवश्यक है। वह लाल सागर और फारस की खाड़ी में अपने पैर जमा चुके हैं। शीघ्र ही तुमको मिस्र को लेकर उनके साथ झगड़ा करना पड़ेगा।[17]

फ्रॉन्स के सेंट साइमन की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने के लिए एक लाख पचास हजार फ्रेन्क लगाकर सन् 1846 में एक सोसायटी बनाई जिसका नाम ''सोसायटी डी–ट्यूडस–डू–कैनाल–डी–स्वेज़'' रखा। इसमें एक खोजी दल भी था जिसमें पॉलिनटल बोत और राबर्ट स्टीफन, इन्फेन्टीन जैसे लोग थे।[18] इस खोजी दल के अभियान के दो नतीजे निकले – पहला तो यह कि दोनों सागरों के पानी की सतहों में अन्तर होने की बात बेबुनियाद है अतः स्थलडमरूमध्य के आर–पार सीधी नहर बनाई जा सकती है। परन्तु स्टीफन का पिता रेलवे इंजिन का आविष्कारक था, स्वभावतः स्कन्दरिया से लेकर स्वेज़ तक रेलवे लाइन बिछाने के पक्ष में था।[19] स्टीफेन्सन ने मो0 अली के बाद अब्बास पाशा के समय में 1854 में रेलवे लाइन को बनाने में सफलता प्राप्त की।

इन्फेन्टाइन, लामार्टीन, डी अरगेन्सन ने फ्रान्स में अब इस बात पर जोर दिया कि नहर बनाने के प्रयत्न राजनीतिक अधिक होने के कारण सफल नहीं हो रहे हैं। इस कार्य में तभी सफलता प्राप्त की जा सकती है जबकि इस पर शुद्ध मानवतावादी, व्यापारिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से प्रयत्न किया जाय। लामार्टीन ने तो यहाँ तक कहा कि इंग्लैण्ड अपने आखिरी जहाज के नष्ट होने के पश्चात् ही फ्रान्सीसियों को सीधे या परोक्ष रूप में इस नहर तक पहुँचने देगा।[20]

सन् 1853 में लीनेन्त बे ने अपने सर्वे में पुनः इस बात को दोहराया कि स्थलडमरूमध्य के आर–पार नहर बनाने में कोई भी बड़ी कठिनाई नहीं है। केवल अंग्रेज लोग ही इसका विरोध कर रहे हैं और यह मत निश्चित करके बात करते हैं कि इस तरह की नहर असम्भव और अनार्थिक होगी।[21] उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि नहर के निर्माण की योजना के अंग्रेज विरुद्ध ही नहीं थे वरन् उसके न खुदने देने के लिए हर एक तरह का अड़ंगा लगाने को तैयार रहते थे।

15 सितम्बर, 1854 में अब्बास पाशा की मृत्यु के उपरान्त मोहम्मद सईद जोकि मोहम्मद अली का लड़का था, मिस्र का शासक बना।[22] 1832 में मैथ्यू–डी–लीसेप्स फ्रान्सीसी राजदूत के रूप में मोहम्मद सईद के पिता मोहम्मद अली की राजकाज में सहायता भी किया करता था और उसका पुत्र फर्दीनन्द–डी–लीसेप्स मोहम्मद सईद को घुडसवारी सिखाया करता था। जब उसने सुना कि उसका शागिर्द मिस्र का शासक बन गया है, उसने एक बधाई–पत्र शासक को भेजा। 7 नवम्बर, 1854 को वह स्वयं स्कन्दरिया पहुँचा जहाँ उसका स्वागत किया गया। मोहम्मद सईद ने जो 10,000 आदमियों को लेकर स्कन्दरिया से काहिरा के सैनिक अभियान पर जाने वाला था, उसमें शामिल होने के लिए फर्दीनन्द को भी आमंत्रित किया। इस अभियान के दौरान चुपके से फर्दीनन्द ने एक सुबह नहर के बारे में अपनी योजना मोहम्मद सईद को बतलायी। मो0 सईद ने उत्तर में कहा–

''मैं सहमत हूँ। मुझे तुम्हारी योजना मन्जूर है। अपने अभियान के शेष समय में इस योजना को कैसे पूरा किया जाय इस पर हम विचार करेंगे। तुम मुझ पर पूरा भरोसा कर सकते हो।[23]

काहिरा पहुँचने पर 25 नवम्बर को वाइसराय मो0 सईद ने सभी राजदूतों को बुलाया और उसने यह घोषणा की कि स्थलडमरूमध्य के आर–पार एक नहर खोदी जाएगी जिसका काम एक कम्पनी करेगी जिसमें सभी देशों की धनराषि लगी होगी। फर्दीनन्द को यह अधिकार दिया जाता है कि वह कम्पनी को संगठित करे। इस योजना से उपस्थित अंग्रेजों का राजदूत सुस्त पड़ गया।

''30 नवम्बर, 1854 की एक विज्ञप्ति निकाली गई जिसमें नहर के निर्माण और उसके लिए एक कम्पनी को संगठित करने का दायित्व फर्दीनन्द को दिया गया। यह भी बताया गया कि स्थलडमरूमध्य के आर–पार बनने वाली नहर से होने वाले लाभ का 15 प्रतिशत मिस्री सरकार को, 10 प्रतिशत फाउन्डर्स सदस्यों को एवं 75 प्रतिशत शेयर होल्डरों को मिलेगा। यह भी तय हुआ कि सभी देशों की चुंगी दर एक ही रहेगी और किसी को भी कोई विशेष सुविधा प्राप्त न होगी। यह एक अजीबो–गरीब बात थी कि मिस्र में खुदी नहर से उसे कोई भी विशेष सहूलियत नहीं थी। इस कन्सेशन का समय 99 वर्ष का रखा गया जो नहर के खुलने के दिन से माना जाएगा।''

''उपरोक्त अवधि समाप्त होने के पश्चात् नहर पर मिस्री सरकार का पूरा अधिकार हो जाएगा। उस समय कम्पनी की बची हुई समस्त चल व अचल सम्पत्ति का मुआवज़ा कम्पनी को दिया जाएगा। इस राशि को कोई मध्यस्थ तय करेगा। कन्सेशन में यह भी कहा गया कि कार्य तभी शुरू होगा जबकि मिस्र की सर्व सत्ता रखने वाली तुर्की सरकार इस दी गई सुविधा का अनुमोदन कर देगी।''

फर्दीनन्द–डी–लीसेप्स ने बिना समय बर्बाद किए 100 फाउंडर सदस्यों को सीधे भर्ती करके 5,000 फ्रेन्क एकत्रित किए जिससे इस योजना को कार्यरूप दिया जा सके। वह तुरन्त ही स्थलडमरूमध्य पहुँचा। उसके साथ दो फ्रान्सीसी इन्जीनियर मोगल और लिनेन्ट थे जोकि मिस्री सरकार की सेवा में थे। उसने इन्जीनियरों की बात सुनने के बाद वह रेखा खींची जहाँ से स्वेज़ नहर को गुजरना था।

सन् 1855 में उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन गठित किया जिसमें प्रारम्भिक जांच–पड़ताल के बाद एक ''सब–कमेटी'' बना दी गई जिसमें 5 सदस्य थे जिनको मिस्र जाकर के प्रस्तावित नहर के स्थान की बनावट की जांच–पड़ताल करना था। इसमें 12,000 पाउण्ड खर्चा आया जिसको मिस्र के वाइसराय मो0 सईद ने वहन किया। इस ''सब–कमेटी'' ने स्कन्दरिया आकर 1 जनवरी, 1856 को एक प्रारम्भिक रिपोर्ट वाइसराय के समक्ष पेश की जिसमें कहा गया कि–

1. स्कन्दरिया से काहिरा से लाल सागर को जोड़ने वाला प्रस्तावित मार्ग असम्भव और आर्थिक रूप से हानिकारक है।
2. दोनों सागरों को जोड़ने के सीधे मार्ग में साधारण कठिनाइयों से अधिक और कोई बड़ी कठिनाई नहीं है।
3. स्वेज़ के बन्दरगाह पर 30 फिट गहरा पानी एक मील के समुद्री किनारे पर मिलेगा।
4. पैलुसियम पोर्ट को 17 मील पश्चिम की ओर खिसकाना पड़ेगा जहाँ पर 25 फिट पानी की गहराई आधे मील समुद्री किनारे पर मिलेगी जिससे जहाजों को लंगर डालने में आसानी होगी।
5. स्वेज़ नहर और उससे सम्बन्धित निर्माण–कार्य में 80 लाख पाउण्ड से अधिक खर्च नहीं होगा जैसा कि वाइसराय के इन्जीनियरों ने अनुमान लगाया है।

रिपोर्ट प्राप्त होने के बाद वाइसराय ने पुराने दिए हुए कन्सेशन को पुनः अनुमोदित करते हुए स्वेज़ केनाल कम्पनी बनाने की पूर्ण इजाज़त दे दी जिसका मुख्यालय स्कन्दरिया में स्थापित करने को कहा गया। कानूनी तथा प्रशासनिक कार्यवाही के लिए पेरिस में आफिस खोलने के लिए कहा गया। कम्पनी को 4 लाख शेयर जारी करने की इजाज़त दी गई। प्रत्येक शेयर 500 फ्रेन्क का निश्चित किया गया। सभी राष्ट्रों को इस आयोजन में हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया गया। इस दूसरे अनुमोदन में मिस्र को डाइरेक्टर नियुक्त करने का अधिकार समाप्त हो गया तथा एक ऐसी धारा भी शामिल की गई कि निर्माण कार्य में 4/5 भाग मिस्री मजदूरों का रहेगा।

वाइसराय मो0 सईद की यह घोषणा राजनीतिक क्षेत्रों में बम विस्फोट की तरह सिद्ध हुई। यह निर्णय इतना अचानक था कि प्रभावित होने वाली राष्ट्रों की सरकारें कुछ भी नहीं कह सकीं। फ्रान्स और आस्ट्रिया दोनों प्रसन्न थे जबकि इंग्लैण्ड को इसके बारे में बेहद गलत फहमियाँ थीं। उसने मिस्र में अपने राजदूत मि0 बूश को यह निर्देश दिया कि वे तुरन्त वाइसराय को बता दें कि इंग्लैण्ड की सरकार इस योजना का समर्थन नहीं करती है। वाइसराय के समक्ष यह प्रतिवेदन भी प्रस्तुत करती है कि यह एक बहुत खर्चीली और असम्भव योजना है।

फर्दीनन्द शीघ्र ही यह समझ गया कि इस अंग्रेजी विरोध का उसे पूरी ताकत से मुकाबला करना होगा। वह घोषणा–पत्र को तुर्की की सरकार से अनुमोदित कराने के लिए तुरन्त ही कुस्तुनतुनियां पहुँचा। कुस्तुनतुनियां में इस समय वास्तविक सत्ता अंग्रेजी राजदूत लार्ड स्ट्रेड फोर्ड–डी–रैडक्लिफ के हाथों में थी जिसने सुल्तान को यह सुझाव दिया कि जब तक उसे इंग्लैण्ड से निर्देश प्राप्त न हो जाय तब तक वाइसराय के इस घोषणा–पत्र का अनुमोदन न किया जाय। लार्ड स्ट्रेड फोर्ड का सुल्तान और वज़ीर पर इतना प्रभाव था कि फर्दीनन्द को वहां कोई भी सफलता प्राप्त न हुई यद्यपि उसने यह साफ कह दिया था कि वहाँ पर वाइसराय मो0 सईद के दूत की हैसियत से आया है। वह स्ट्रेड फोर्ड से भी मिला परन्तु उसने कहा कि इस नाजुक मामले में वह उसकी सहायता करने में असमर्थ है।

फर्दीनन्द बिना समय नष्ट किए स्कन्दरिया लौट आया और वाइसराय को प्रत्येक बात से अवगत कराया। परिणाम स्वरूप मो0 सईद नहर बनवाने के मामले में अपनी बात पर दृढ़ प्रतिज्ञ हो गया। फर्दीनन्द ने अब लन्दन जाकर ही अंग्रेजों से निपटने की सोची। वह जून, 1855 में लन्दन पहुँचा और वहाँ के प्रधानमंत्री लार्ड पार्मस्टन से मुलाकात की उसने उनको साफ–साफ बताया कि इस नए मार्ग के खुलने से उसको वह सब विशेष सुविधाएँ प्राप्त हो जाएंगी जो ''केप रूट मार्ग'' पर और देशों के मुकाबले उसे प्राप्त हैं। प्रत्येक राजनीतिज्ञ को खराब से खराब दृष्टिकोण से सोचना पड़ता है। उसे भी अपने बादशाह के प्रति स्वामिभक्त और निष्ठावान रहना है। इससे यह प्रकट हो गया कि इंग्लैण्ड का यह विचार कि इस नहर के बनने से तुर्की साम्राज्य का नुकसान होगा और मिस्र स्वतन्त्र हो जाएगा, बेबुनियाद है जैसा कि फर्दीनन्द से विदेश मन्त्री लार्ड विलयेरेण्डन ने मिलने पर उसे बताया था।

''राबर्ट स्टीफेन्सन जो कभी स्वेज़ नहर की खोज–पड़ताल की अन्तर्राष्ट्रीय समिति का सदस्य था जिसने अंग्रेजों के लिए 1854 में स्थलडमरूमध्य से स्वेज़ तक नहर बनाने में सफलता प्राप्त कर ली थी, ने अपना विरोध संसद के सदस्यों द्वारा प्रकट किया। परन्तु फर्दीनन्द इससे निराश नहीं हुआ और उसने अपना प्रचार जहाजरानी कम्पनी, पूरब के देशों से व्यापार करने वाली कम्पनी, बैकों, जहाज निर्माण करने वाली कम्पनियों, कोयला खदानों की कम्पनियों के मालिकों और डाइरेक्टरों के बीच तेजी से करना प्रारम्भ किया। कालान्तर में उसकी यह नीति काफी सफल सिद्ध हुई।''

''1856 में जब वह पुनः इंग्लैण्ड पहुँचा तो क्वीन विक्टोरिया से उसकी मुलाकात हुई। ''रायल ज्योग्राफी सोसायटी'' ने भी उसको निमन्त्रण दिया। इस बीच इंग्लैण्ड के सभी व्यापार मण्डल इस योजना से प्रभावित हो चुके थे। 7 जून, 1857 को संसद के अन्दर हैनरी बकेले ने स्पष्ट रूप से सरकार से आग्रह किया कि वह तुर्की के सुल्तान को इस घोषणा का अनुमोदन करने के लिए पत्र लिखें। अगर वह नहीं लिखती है तो इसके विरूद्ध जो भी उसके पक्ष में तर्क हों, उनको ब्योरा प्रस्तुत करें। परन्तु पार्मस्टर्न ने इनकार करते हुए कहा कि ''हमारी सरकार सुल्तान को प्रभावित करने के लिए कोई पत्र नहीं लिखेगी क्योकि 15 साल से वह बराबर उसका विरोध कर रही है। यह आयोजन नए पूंजीपतियों को बेवकूफ बनाने के लिए है। इस आयोजन का स्पष्ट प्रभाव मिस्र का तुर्की से अलग होना होगा।26

मई, 1857 में हिन्दुस्तान में वहां के राजाओं ने और अंग्रेजों की हिन्दुस्तानी सेनाओं ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत कर दी। अंग्रेजी सेना की सहायता के लिए ब्रिटिश सरकार को अपनी सेनाएं इंग्लैण्ड से भेजनी पड़ीं। शीघ्रता की बज़ह से उन्हें मिस्र के मार्ग से ही गुजरना पड़ा। इस पर 20 अक्टूबर, 1857 को ''डेली न्यूज़'' ने यह टिप्पणी लिखी–

''इस प्रकार सरकार को यह मानना पड़ा कि हिन्दुस्तान से यातायात के लिए स्वेज़ मार्ग ही सर्वोत्तम है। ... स्वेज़ नहर योजना की उपयोगिता का इससे अधिक पूर्ण समर्थन क्या होगा?सरकार की यह कार्यवाही। (स्वेज़ मार्ग द्वारा सेना भेजना।) लार्ड पार्मस्टर्न, लार्ड स्ट्रेडफोर्ड की निन्दा है जिन्होंने इस योजना का विरोध किया था।27

1 जून, 1858 को ब्रिटिश संसद में इस बात को लेकर पूरा वाद–विवाद हुआ। 62 सदस्यों ने रोचक के प्रस्ताव का जो नहर बनाने के समर्थन में था, समर्थन किया।

अन्ततः 28 जुलाई को फर्दीनन्द ने अपनी कम्पनी की भलाई के लिए और उसके सुखद भविष्य के लिए नेपोलियन तृतीय से देखने की प्रार्थना की जबकि अब तक वह बराबर इस बात को मानता रहा था कि सरकारी दखलन्दाजी से कम्पनी की कार्यवाहियां मुक्त रहें। वहां से उसे पूरा–पूरा आश्वासन मिला। सितम्बर, 1858 में ''वियना'' में अपने सहयोगी डी–निगरैली को पत्र लिखा, उसमें लिखा–

''फ्रान्स के बादशाह इस बात के तरफदार हैं कि कम्पनी के संगठन के कार्य को वरीयता दी जाय एवं राजनैतिक प्रश्नों को भुला दिया जाय। आगे चलकर यह संगठन ही इतना शक्तिशाली होगा कि वह स्वयं ही सभी विरोधों का मुकाबला कर लेगा और उस समय यदि जरूरत होगी तो फ्रान्स की सरकार इसका समर्थन करेगी। मुझे यह बात बहुत ही ठीक मालूम पड़ती है।''28

फर्दीनन्द बादशाह से उपरोक्त आश्वासन पाकर वह स्वेज़ केनाल कम्पनी को संगठित करने में जुट गया। कन्सेशन प्राप्त किए चार साल हो रहे थे और वह स्वयं कार्य करने के लिए अधीर हो रहा था। नवबर, 1858 में उसने 4 लाख शेयर जो प्रत्येक 500 फ्रेन्क का था, जिस पर 5 प्रतिशत ब्याज देने का वायदा किया गया था, बाज़ार में बेचने की घोषणा की और इनमें से उसने प्रत्येक देश को कुछ न कुछ शेयर एलाट किए।29 इन शेयरों को बेचने के लिए उसने ''वेलडोम'' में एक आफिस खोला। खुद ही उसने समस्त यूरोप का दौरा किया। 5 नवम्बर से 20 नवम्बर के बीच में 25,000 लोगों ने शेयर खरीदने के लिए प्रार्थना–पत्र दे दिए। कम्पनी ने 85,506 शेयर इंग्लैण्ड, अमेरिका, आस्ट्रिया और रूस के लिए रिजर्व किए थे। परन्तु उन्होंने पूरी तरह से इसका बहिष्कार किया जिससे फ्रान्सीसी लोगों ने अंग्रेजों की इस साजिश को विफल करने के लिए 2 लाख 7 हजार 111 शेयर खरीद डाले। वाइसराय मो0 सईद और तुर्की सरकार ने 96,517 शेयर खरीदे थे।30 जब इससे अधिक शेयर बेचने में फर्दीनन्द को सफलता प्राप्त नहीं हो रही थी

तब मोहम्मद सईद ने बहिष्कार करने वाले देशों को रिजर्व किए गए सभी शेयर खरीद डाले। इस प्रकार मिस्र के शेयर अब कम्पनी में लगभग आधे हो गए। 15 दिसम्बर, 1858 को कम्पनी को संगठित करने की कार्यवाही पूरी हुई। फर्दीनन्द–डी–लीसेप्स, बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर का चेयरमैन चुना गया।

फर्दीनन्द ने अब पूरा ध्यान नहर की खुदाई की और देना शुरू किया। उसके पास कार्य को प्रारम्भ करने के लिए पूँजी मौजूद थी। वह वाइसराय मो0 सईद के पास पहुँचा तो उसे असमंजस में पाया क्योंकि कुछ कानूनी सलाहकारों ने उसे यह सलाह दी थी कि बिना तुर्की के सुल्तान के अनुमोदन के इस कार्य को वैधानिकता नहीं प्राप्त होगी अन्ततः वह मो0 सईद को यह समझाने में सफल हो गया कि यह नहर पूर्णतः मिस्र का उसी तरह आन्तरिक मामला है जिस तरह कि मिस्र में स्कन्दरिया से काहिरा तक बिछाई गई रेलवे लाइन। इससे वाइसराय काफी प्रभावित हुआ और उसने 20,000 शर्त बन्द मज़दूर कम्पनी के लिए एकत्र कर दिए। 25 अप्रैल, 1858 को स्थलडमरू मध्य (इस्थुमस) के पास कार्य प्रारम्भ कर दिया गया जहाँ कि फर्दीनन्द ने अपने दोस्त और संरक्षक मो0 सईद की यादगार में पोर्ट सईद नामक बन्दरगाह की स्थापना नहर के मुहाने पर की।

कार्य बहुत तेजी से प्रारम्भ हुआ और 2 फरवरी, 1862 को कार्य स्थल तक नील नदी से मीठे पानी की नहर बनाने का कार्य पूरा कर दिया गया एवं 18 नवम्बर, 1862 को भू–मध्यसागर का पानी–तिमसा'' झील में पहुँचाने में सफलता प्राप्त कर ली गई।31 कार्य आगे तेजी से चल रहा था कि अचानक 1 जनवरी, 1863 को मो0 सईद का इन्तकाल हो गया और खदीव इस्माइल उसका उत्तराधिकारी बना।32 33 वर्षीय इस्माइल पाशा की शिक्षा फ्रान्स में सम्पन्न हुई थी एवं वह राजनायिक यात्राओं पर बेटिकन, तुर्की एवं नेपोलियन तृतीय के दरबार में जा चुका था।

इस्माइल भी इस योजना के बिल्कुल विरोध में नहीं था और उसने तो यहाँ तक कहा कि वह उतना ही नहरवादी है जितना कि फर्दीनन्द स्वयं। परन्तु वह चाहता है कि ''नहर मिस्र के लिए हो, मिस्र नहर के लिए नहीं।'' निर्माण–कार्य में लगे श्रमिकों की मज़दूरी न देने एवं उनके साथ दासों जैसा व्यवहार की बात से वह नाराज़ था। उधर जब सुल्तान के पास यह समाचार पहुँचे तो उसने खदीव को श्रमिकों पर जुल्मों को समाप्त करने तथा कम्पनी द्वारा आवश्यकता से अधिक हथियाई हुई जमीन को वापस लेने के निर्देश भेजे। कम्पनी को काम बन्द करने का आदेश दे दिया गया। इस आदेश से फ्रान्सीसी राजदूत भी घबड़ा गया और उसने फर्दीनन्द को सलाह दी कि मामले को ज्यादा पेचीदा न करने के लिए इस आदेश को मान लिया जाय। परन्तु कम्पनी का चीफ इन्जीनियर ''लारोकी'' काम बन्द करने को तैयार न हुआ और उसने फर्दीनन्द को लिखा कि – ''सभी कुछ अब फ्रान्स के बादशाह के रुख पर निर्भर है।''

फर्दीनन्द के नेतृत्व में कम्पनी का एक प्रतिनिधि मण्डल तुरन्त फ्रान्स के बादशाह से मिला। महारानी से दूर का सम्बन्ध होने के कारण फर्दीनन्द का यहाँ पहुँचना आसान था। उसने बादशाह से स्पष्ट कहा कि इस समय आपकी सहायता की पूरी आवश्यकता है। नेपोलियन तृतीय ने आश्वासन देते हुए कहा 'परेशान मत हो तुम मेरी मदद पर भरोसा कर सकते हो।'33

दूसरे अनुमोदन–पत्र में इस बात की व्यवस्था थी कि यदि कोई विवाद कम्पनी और मिस्र की सरकार में उत्पन्न होता है तो मध्यस्थता द्वारा तय कर लिया जाएगा। मज़दूरों को कम करने एवं जमीन वापसी की बात को लेकर उसने मिस्री सरकार को उस पंचायत में जाने को बाध्य किया जिसका सरपंच नेपोलियन तृतीय स्वयं था।

6 जुलाई, 1864 को नेपोलियन तृतीय ने अपना फैसला दे दिया जिसके अनुसार कम्पनी शर्त बन्द मज़दूर मिस्र से नहीं ले सकती थी तथा कन्सेशन में प्राप्त 1 लाख 50 हजार एकड़ भूमि भी उसे वापस

करनी होगी। मीठे पानी की नहर पर उसका प्रभाव समाप्त हो गया परन्तु पानी के प्रयोग पर उसका पूरा अधिकार था। लेकिन इस सबके मुआवजे के रूप में 85 मिलियन फ्रेन्क कम्पनी को मिस्र द्वारा देना होगा। अन्ततः फ्रान्सीसी सरकार के दबाव से 19 मार्च, 1866 को तुर्की सरकार का अनुमोदन भी प्राप्त हो गया। नेपोलियन तृतीय का यह फैसला पूर्णतया स्वेज़ केनाल कम्पनी के हित में था जिसमें मिस्र की आर्थिक स्थिति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। वस्तुतः इस मुआवजे के पश्चात् नहर खुदवाने की पूरी लागत मिस्र को ही वहन करनी पड़ी।

नेपोलियन तृतीय के फैसले के बाद कम्पनी ने 15,000 मजदूर भू–मध्यसागर के देशों से इकट्ठे किए और मशीनों की सहायता से काम पुनः शुरू किया। अब खुदाई दोनों ओर से प्रारम्भ हुई – तिमसा झील से दक्षिण की ओर तथा स्वेज़ से उत्तर की तरफ। अन्त में भू–मध्यसागर और लाल सागर दोनों को ''बिटर झील'' से मार्च, 1869 में जोड़ दिया गया।34

पूर्ण होने पर स्वेज़ नहर की लम्बाई लगभग 100 मील, ऊपरी चौड़ाई 150–300 फिट तक, तलहटी में चौड़ाई 72 फिट एवं गहराई 26 फिट थी। नहर से जहाजों के गुजरने के लिए 8 स्टेशन बनाए गए वहां पर माल उतारने के लिए प्लेटफार्म भी बनाए गए।35

17 नवम्बर, 1869 को स्वेज़ नहर के उद्घाटन की तिथि निश्चित की गई। इस अवसर पर शामिल होने के लिए सभी राजघरानों से प्रार्थना की गई। उस समय खदीव इस्माइल के अतिथियों में फ्रान्स की साम्राज्ञी, आष्ट्रीया का बादशाह, पर्शिया और नीदरलैण्ड के युवराज के अतिरिक्त अन्य बहुत से अतिथि समारोह में पधारे। फ्रान्स की महारानी के नेतृत्व में 67 जहाजों का बेड़ा तोपों की सलामी के साथ 11 बजे चलना प्रारम्भ हुआ और 20 नवम्बर को पोर्ट स्वेज़ पहुँच गया। इस दौरान रास्ते में किसी भी प्रकार की कोई परेशानी नहीं हुई।36

उद्घाटन के समय स्वेज़ नहर के द्वारा की गई यात्रा का वर्णन एक यात्री ने इस प्रकार किया है–

''मंझिला झील से निकलकर बीस मील आगे चलकर हम लोग वास्तविक रेगिस्तान में पहुँच गए। जहाँ तक दृष्टि जाती थी लगातार बालू ही बालू, बंजर भूमि दिखाई पड़ती थी केवल उन जगहों को छोड़कर जहाँ स्टेशन बने हुए थे। गर्मी और खुश्की का वातावरण था। इस्मालिया से पोर्ट सईद तक जाने वाली मीठे पानी की नहर से पानी लेकर नील नदी से सिंचाई करके जहाँ–तहाँ नखलिस्तान बन गए थे। गुमटियाँ घनी बेलों से पूरी तरह ढकी हुई थीं। बेंत और पाम स्वतन्त्रता पूर्वक उगे हुए थे। यह कहावत पूरी तरह चरितार्थ हो रही थी कि ''रेगिस्तान गुलाब के फूल की तरह खिल उठा है।37

स्वेज़ नहर के निर्माण के कार्य में चार वर्ष की देरी हो जाने से अत्यधिक धनराशि ब्याज के रूप में देना पड़ी जिससे कम्पनी के ऊपर कर्ज बहुत हो गया। परिणाम स्वरूप कम्पनी तो एक समय दिवालिया होने की स्थिति में भी पहुंच गई थी। फ्रान्स सरकार ने कम्पनी को फ्रान्स के अन्दर लाटरी लोन देने की इजाजत दी तब कहीं जाकर कम्पनी इस आर्थिक संकट को पार कर पायी।38 यह सारा लोन मिस्र की सम्पत्ति को बंधक रखकर लिया गया था।

इस प्रकार नाम के लिए कम्पनी में बहुत से राष्ट्रों की सम्पत्ति लगी हुई थी जबकि वस्तुतः अधिकांश धनराशि मिस्र की लगी थी। इसके अतिरिक्त कम्पनी द्वारा लिए गए कर्जे के लिए भी मिस्र की सरकार ने जमानत दी थी जिससे मिस्र को आगे चलकर अत्यधिक परेशानियों का सामना करना पड़ा।

स्वेज़ नहर के बारे में यूरोपीय इतिहासकारों ने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं जिनके पढ़ने से इस तरह का विचार बनता है जैसे कि नहर के निर्माण का पूरा खर्चा यूरोप के मुल्कों ने उठाया है। मिस्र का

योगदान केवल यही है कि उसने अपनी दलदली और रेगिस्तानी भूमि मुफ्त में इस नहर को दी। परन्तु तथ्य तो कुछ और ही है।

प्रारम्भ में कम्पनी ने कुल 4 लाख शेयर बिक्री के लिए जारी किए थे। इनमें से प्रत्येक शेयर 20 पौंड का था। 2 पौंड प्रति शेयर, शेयर खरीदने के प्रार्थना–पत्र में अग्रिम जमा करने पड़ते थे। 6 पौंड शेयर के एलाट होने पर। इसके पश्चात् 2 वर्ष तक कम्पनी कोई भी धन शेयर होल्डर से नहीं माँग सकती थी तथा प्रति शेयर 5ः ब्याज बिकने के दिन से ही दिया जाता था। इस प्रकार कम्पनी ने 30 नवम्बर, 1858 तक 40 लाख पाउण्ड एकत्रित किए थे। 1867 में कम्पनी ने 40 लाख पाउण्ड बाण्ड के रूप में उधार लिया था। इन बाण्डों की बिक्री से कम्पनी ने 28 लाख 56 हजार 313 पाउण्ड इकट्ठे किए थे। इस प्रकार कम्पनी ने कुल 68 लाख 56 हजार 313 पाउण्ड एकत्र किए जबकि नहर की खुदाई का शुद्ध खर्चा 1 करोड़ 16 लाख 27 हजार पाउण्ड था। उस समय यूरोप के इन्जीनियरों ने इसकी लागत 3–4 गुना का अनुमान लगाया गया था। कुल 68 लाख की लागत से 110 लाख पाउण्ड नहर खुदवाने में कैसे खर्चा किया गया और यूरोप के लोग जिस कार्य का खर्चा 3–4 करोड़ पाउण्ड के बीच आंकते थे, वह 1 करोड़ 10 लाख पाउण्ड में कैसे किया गया?यह विचारणीय प्रष्न है।

इस कम लागत का मुख्य कारण ''कर्बी'' द्वारा प्राप्त मज़दूर थे। कर्बी की प्रथा का फायदा उठाकर कम्पनी अपने ऐजन्टों द्वारा जबरदस्ती पकड़–पकड़ कर मज़दूरों को काम पर लाती थी एवं नाम मात्र की मज़दूरी देकर उनसे खुदाई करवाती थी। 20,000 मज़दूर प्रति दिन इस योजना पर कार्य करते थे। उनको इतनी कम मज़दूरी दी जाती जो उनके खाने के लिए भी पर्याप्त नहीं थी। इसी कारण आधी खुदाई होते–होते1 1 लाख 20 हजार मज़दूरों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इसके सस्तेपन का अन्दाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि जब तुर्की सुल्तान के हस्तक्षेप करने पर 20,000 मज़दूरों की संख्या घटाकर 6,000 कर दी गई2 तो कम्पनी ने मिस्र की सरकार से मुआवजे की मांग की। नेपोलियन तृतीय ने अपनी पंचायत में इस मांग को जायज़ बताकर मिस्र की सरकार द्वारा कम्पनी को 15 लाख 20 हजार पाउण्ड हर्जाना देने का फैसला दिया।3 इस प्रकार यदि देखा जाय तो इन मज़दूरों के कारण ही कम्पनी को कम से कम 60–70 लाख पाउण्ड का फायदा लागत कम आने के कारण हुआ था।

कम्पनी के एकाएक धनवान होने और 60–70 लाख पाउण्ड से करोड़ों पाउण्डों का सफलता पूर्वक निर्माण करने का दूसरा कारण नेपोलियन तृतीय का फैसला ही था। कम्पनी ने निर्माण कार्य के दौरान बहुत सी जमीन पर कब्जा कर लिया था जिसका नहर के निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं था। जब सुल्तान ने इस जमीन को वापस देने के लिए कहा तो कम्पनी ने इसके लिए भी मुआवजे की मांग की। इस जमीन को वापस देने और मज़दूरों के नाम पर कुल 33 लाख 60 हजार पाउण्ड हर्जाना कम्पनी को 1864 में देना पड़ा। 1866 में अनुमोदन–पत्र की दूसरी धाराओं से छुट्टी पाने के लिए मिस्र को पुनः 20 लाख पाउण्ड कम्पनी को देने पड़े।4 इस प्रकार कम्पनी में मिस्र का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से योगदान निम्न प्रकार था।

40 लाख पाउण्ड शेयर खरीदने में। 55 लाख 69 हजार पाउण्ड मुआवजे के रूप में। जबकि यूरोप का योगदान कुल 40 लाख पाउण्ड था।

30 अप्रैल, 1868 को कम्पनी के शेयर होल्डरों की मीटिंग में जो लेखा–जोखा प्रकाशित किया गया था उसके अनुसार 1 करोड़ 38 लाख 63 हजार 866 पाउण्ड कुल पूंजी कम्पनी ने इकट्ठा की थी जिसमें 80 लाख पाउण्ड शेयर बेचकर, 33 लाख 60 हजार पाउण्ड मिस्र से मुआवजे के रूप में, 11 लाख 43 हजार पाउण्ड बाण्डों की बिक्री द्वारा कर्ज के रूप में थी।5 यह 11 लाख 43 हजार पाउण्ड बाण्ड के रूप

में जो कर्जा प्राप्त किया गया था वह भी खदीव के शेयरों के मुनाफे की जमानत पर थे। इस प्रकार कम्पनी के अनुसार ही मिस्र द्वारा लगाई हुई पूँजी निम्न प्रकार थी।

40 लाख पाउण्ड शेयर खरीद कर। 33 लाख 60 हजार पाउण्ड हर्जाने के रूप में। 11 लाख 43 हजार पाउण्ड बाण्डों की बिक्री के रूप में। यह कुल धनराशि लगभग 85 लाख पाउण्ड हो जाती है।

1875 में ''इकानामिस्ट'' में कम्पनी के बारे में जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसके अनुसार कम्पनी की कुल पूँजी 1 करोड़ 90 लाख पाउण्ड की थी।6 जबकि कम्पनी द्वारा इकट्ठा किया हुआ कुल धन 01 लाख 43 हजार पाउण्ड ही था जिसमें से 40 लाख पाउण्ड मिस्र ने शेयर खरीद कर दिया था और 11 लाख 43 हजार पाउण्ड मिस्र के मुनाफे पर लिया गया कर्जा था। इस प्रकार यूरोप ने केवल 40 लाख पाउण्ड खर्च करके 1871 तक 1 करोड़ 50 लाख पाउण्ड इस कम्पनी के द्वारा अर्जित कर लिए थे। मिस्र को लाभांश में अपना हिस्सा सभी कुछ किसी न किसी कारण से छोड़ देना पड़ा था।

1871 में ''एडिनबर्ग रिव्यू'' में एम0 डर्विन ने एक पैम्फ्लेट प्रकाशित किया था जिसके अनुसार खदीव इस्माइल ने कुल 2 करोड़ 80 लाख पाउण्ड कर्जा लिया था जिसमें से 1 करोड़ 60 लाख पाउण्ड किसी न किसी रूप में कम्पनी के लिए खर्च किए गए थे। उसके अनुसार–

शेयर और उसके ब्याज के रूप में कम्पनी को 52 लाख 80 हजार पाउण्ड मिस्र ने कम्पनी को दिए। नेपोलियन तृतीय के फैसले के अनुसार 46 लाख 14 हजार पाउण्ड कुल हर्जाना देना पड़ा। काहिरा से अल–ऊदी तक मीठे पानी को नहर बनवाने के लिए 8 लाख 60 हजार पाउण्ड मिस्र ने खर्च किए जिसका फायदा कम्पनी ने स्वेज़ नहर के कर्मचारियों के लिए मीठा पानी प्राप्त करके उठाया। इस नहर के बन जाने से ऊदी की जिस जमीन पर कब्जा करके कम्पनी ने खेती करवानी शुरू कर दी थी उसको पुनः कम्पनी से वापस लेने के लिए 4 लाख पाउण्ड मिस्र को देने पड़े। स्वेज़ में डाक (गोदी) बनवाने के लिए 3 लाख 60 हजार पाउण्ड और स्वेज़ का बन्दरगाह बनवाने के लिए 9 लाख 35 हजार पाउण्ड और खतरे के स्थानों पर लाइट हाउस बनवाने के लिए 50 हजार पाउण्ड मिस्र को अलग से खर्च करने पड़े। इस प्रकार यह खर्च सब मिलाकर 1 करोड़ 15 लाख 50 हजार पाउण्ड से भी अधिक हो जाता है।

खदीव को शेयर बेचने से 40 लाख पाउण्ड और दूसरे अधिकार बेचने से 29 लाख 50 हजार पाउण्ड के लगभग वापस मिला। इस प्रकार कम्पनी से जो धन वापस मिला यह 69 लाख 50 हजार पाउण्ड होता है। शेष 46 लाख 15 हजार पाउण्ड कम्पनी के लिए खदीव द्वारा खर्च किया गया जिसका पूरा–पूरा लाभ कम्पनी को हुआ। यदि यह राशि कम्पनी को खर्च करनी पड़ती तो उसकी लागत डेढ़ गुना हो गई होती। बावजूद मिस्र के इस योगदान के 1871 तक पहुँचते–पहुँचते कम्पनी के मुनाफे में मिस्र का हिस्सा लगभग शून्य हो चुका था।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिजरैली ने अपने शासन काल में मिस्र के 1 लाख 76 हजार शेयर 40 लाख पाउण्ड में खरीदे थे। इन शेयरों का मुनाफा 20 साल के लिए खदीव पहले ही बेच चुका था। यह बात छिपी हुई नहीं थी। 8 शेयर खरीदने के कुछ वर्ष पश्चात् अंग्रेजों ने मिस्र सरकार को मजबूर किया कि इस मुनाफे की बिक्री से जो इंग्लैण्ड को नुकसान हुआ उसके लिए मिस्र इंग्लैण्ड को 40 लाख पाउण्ड अदा करे। इस प्रकार इंग्लैण्ड ने बिना किसी लागत के 1 लाख 76 हजार शेयर मिस्र के प्राप्त कर लिए।

मो0 इस्माइल को जिसने कि ये सब कर्जे लिए, यूरोप के लेखकों ने एक फिजूलखर्च व्यक्ति बताया था जबकि 1871 के एडिनवर्ग रिव्यू के अनुसार उसने अपने कुल कर्जे 280 करोड़ पाउण्ड के कर्जे से 1

करोड़ 20 लाख पाउण्ड खर्च करके मिस्र का अभूतपूर्व विकास किया था। उसके समय में मिस्र का निर्यात 44 लाख पाउण्ड से बढ़कर 1 करोड़ 38 लाख पाउण्ड और सरकारी रेवन्यू 49 लाख से बढ़कर 95 लाख पाउण्ड हो गया था। 1 करोड़ 20 लाख पाउण्ड के पूंजी निवेश से मिस्र के विकास में उपरोक्त सफलता प्राप्त करने वाले इस्माइल को फिजूल–खर्च कहना उसके साथ ज्यादती है। वस्तुतः इंग्लैण्ड और फ्रान्स के लोग इस उन्नति से ही चिढ़ गए थे एवं उसके विरुद्ध यह सब प्रचार ईर्ष्या–ग्रस्त दृष्टि से किया गया है न कि वस्तुपरख दृष्टि से।

मिस्र में वास्तविक संकट तो उस पूंजी निवेश से हुआ है जो इस्माइल को मज़बूर होकर करना पड़ा था। 46 लाख पाउण्ड का कम्पनी को हर्जाना और 40 लाख पाउण्ड इंग्लैण्ड को बिना बात दिया जाना इस्माइल की मज़बूरी थी न कि फिजूल खर्ची।

इस प्रकार वास्तव में स्वेज़ नहर पूर्णतः मिस्री उपक्रम होते हुए भी अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की धोखेबाजी, औपनिवेशिक प्रवृत्तियों, घृणित कूटनीतिक दाँव–पेचों के कारण फ्रान्सीसी और अंग्रेजों के चंगुल में ही नहीं चली गई वरन् मिस्र को भी यूरोपीय महाशक्तियों का दास बना दिया।

संदर्भ ग्रन्थ

1. हज़0जे0 स्कांनफील्ड, ''द स्वेज़ केनाल इन वर्ल्ड अफेयर'' लन्दन, 1952, पृष्ठ 3
2. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 3
3. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 4
4. जे0 सिगफ्राइड, ''स्वेज़ एण्ड पनामा'', लन्दन, 1940. पृष्ठ 41
5. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 39
6. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 4–5
7. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 39–40
8. जवाहर लाल नेहरू, ''विश्व इतिहास की झलक'' प्रथम खण्ड, 1962, पृष्ठ 338
9. जवाहर लाल नेहरू, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 338–339
10. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 52
11. जवाहर लाल नेहरू, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 450–451
12. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 10
13. जवाहर लाल नेहरू, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 534
14. फिशर सिडनी, ''द मिडिल ईस्ट'', न्यूयार्क, 1959, पृष्ठ 279
15. क्लेटन जी0डी0, ''ब्रिटेन एण्ड द ईस्टर्न क्वेश्चन'', न्यूयार्क, 1961, पृष्ठ 431–432
16. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 16
17. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 17
18. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 18
19. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 58
20. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 60
21. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 21
22. यंग जार्ज, ''इजिप्ट'', पृष्ठ 66

23. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 63–65
24. फिभर सिडनी, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 286. बोनी अल्फ्रेड, ''स्टेट इकोनांमिकस इन द मिडिल ईस्ट'', लन्दन, 1955, आर्थर ग्राउचले, ''द इकोनामिक डवल्पमेंट अ१फ इजिप्ट'' लन्दन, न्यूयार्क, 1938
25. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 29–30
26. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 30
27. डेली न्यूज़ – अक्टूबर 2, 1857, लन्दन
28. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 34
29. राबर्ट कोरो, ''फर्दीनन्द डी0 लीसेप्स'', (ग्रासेट), पृष्ठ 84
30. ब्रिटिश एण्ड फारेन स्टेट पेपर्स 1864, 1865, 1870 पृष्ठ 970–973
31. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 72
32. लेन्जोविस्की जार्ज, ''द मिडिल ईस्ट – इट्स डिस्कवरी एण्ड डेवल्पमेंट'', लन्दन, 1954, पृष्ठ 387
33. हज0जे0 स्कांनफलील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 37–38
34. अन्द्रे सिगफ्राइड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 73–74
35. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 41
36. अरमजानी याहया, ''द मिडिल ईस्ट एण्ड प्रेजेन्ट–न्यूजरसी, 1876'' पृष्ठ 215–216
37. ऐरो फ्रेडिरिक, ''ए फोर्टनाइट इन इजिष्ट एट द औपनिंग अ१फ द स्वेज़ केनाल''
38. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 42–43
39. पर्सी फ्टिगेराल्ड, द ग्रेट केनाल एट स्वेज़, लन्दन, 1876, पृष्ठ 61–68
40. अन्द्रे सिगफ्राइड, स्वेज़ एण्ड पनामा, लन्दन, 1940, पृष्ठ 73
41. जे0 स्कांनफील्ड, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 40
42. डा0 हुसैन मुनेस, ए रिकार्ड फ्राम हिस्ट्री–द स्वेज़ केनाल, पृष्ठ 11.
43. कैप्टन क्लार्क, फोर्टनाइटली रिव्यू, 30 अप्रैल, 1868.
44. इकोनामिस्ट, 6 मार्च, 1875
45. एम0 डर्विनस् पेम्पलेट, इडिनवर्ग रिव्यू, 1971
46. पीटर मैन्सफील्ड, द ब्रिटिश इन इजिप्ट, लन्दन, 1971 पृष्ठ 5

उपशास्त्रीय संगीत का श्रृंगार–ठुमरी

डॉ. अनुपमा सक्सेना*

भारतीय संगीत में शास्त्रीय संगीत एवं उपशास्त्रीय संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। शास्त्रीय संगीत से तात्पर्य उस संगीत से है जो शास्त्रानुसार स्वर, लय, ताल आदि के नियमों में बंधा होता है। जिसकी भावाभिव्यक्ति से मनुष्य की मनःस्थिति का पता चलता है। ऐसा ही है हमारा शास्त्रीय संगीत/साधारण भाषा में इसे 'पक्का गाना' नाम से भी सम्बोधित करते हैं। नियमों का पालन करते हुए अपनी कल्पनानुसार अपने भावों को प्रकट कर सकते हैं। इसी श्रृंखला में उपशास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों में ठुमरी, टप्पा, चतुरंग, त्रिवट, दादरा, सादरा, भजन, गज़ल, कव्वाली आदि के नाम आते हैं। इन्हीं शैलियों में टप्पा, ठुमरी आदि कुछ एक ऐसी गायन विधाएं भी हैं जो मूलतः लोकसंगीत किसी प्रदेश या क्षेत्र विशेष की शैलियों से सम्बन्धित रही हैं।

उपशास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों में ठुमरी को एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह भावप्रधान, रस, रंग एवं चपल चाल वाली गायन–शैली मानी गयी है। यह गायन–शैली क्षुद्र होते हुए भी अत्यन्त लोकप्रिय है। सर्वप्रथम ठुमरी की उत्पत्ति ठुम या ठुमकना इस शब्द से हुई है। ठु, म, री, इन तीन अक्षरों के संयोग से ठुमरी शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। ठुम मतलब ठुमक के चलना, शान से चलना, धीमी गति से मटक मटक के चलना, एक श्रृंगारिक चाल और री एक अंतरंग सखी से अपने अंतरमन की बात कहना है।[1]

ठुमरी का उद्‌गम उत्तर भारत की माटी में नृत्य व अभिनय के साथ गाई जाने वाली देसी शैली के रूप में हुआ। विद्वानों का मानना है कि प्राचीन काल से ही स्त्रियाँ विभिन्न सामाजिक उत्सवों में संगीत का व्यवसाय भाव प्रदर्शन ठुमरी गायन के साथ–साथ उसके बोलों के माध्यम से करती थी। वह नृत्य एवं गान में परांगत थी। उन्नसवीं शताब्दी में अवध के नवाब वाजिद अली शाह जो संगीत कला के प्रेमी थे उनके राज्यकाल में ठुमरी गायकी को प्रसिद्धि एवं संरक्षण विशेष रूप से प्राप्त हुआ। ठुमरी का प्रचार मुस्लिम काल में हुआ। महफिलों, मुजरों और जलसों ने ठुमरी शैली को लोकप्रिय बनाया। आरम्भ में राधाकृष्ण से सम्बन्धित क्रीड़ाओं का उल्लेख, नायक–नायिकाओं के रसभरी श्रृंगारिक अभिव्यक्ति इसमें होती रही है। स्वरयोगिनी डॉ0 प्रभा अत्रे जी का ठुमरी के विषय में सुन्दर भावाभिव्यक्ति की है– "ठुमरी का मुख्य उद्‌देश्य विभिन्न भावों की सृष्टि करना है।[2]

ठुमरी को दो अंगों में विभाजित किया गया है –

1. पूरब बाज या पूर्वी अंग
2. पंजाब अंग

1. पूरब बाज या पूर्वी अंगः जब धीमी गायकी में छोटी–छोटी मुर्कियाँ लेकर, बोल तानों के आधार पर ठुमरी गाई जाती है तो उसे 'पूर्वी अंग' की ठुमरी कहते हैं।[3] उत्तर प्रदेश क्षेत्र में लखनऊ एवं बनारस की ठुमरी का रूप देखने को मिलता है। यहाँ की ठुमरी में बोलबनाव को विशेष आकर्षण के कारण इसे 'पूरब अंग' या पूरबी ठुमरी के नाम से पुकारा जाता है। एवं ठुमरी पर चैती, कजरी, सावन के लोकगीतों की झलक दिखायी देती है। ठुमरी की बंदिश में मुख्य राग एवं बोल बनाव, मीड, खटका, मुर्की, कण के द्वारा

* ऐसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्षा, संगीत विभाग, डी0ए0वी0 (पी0जी0) कालेज, देहरादून

विभिन्न प्रकार के संयोजन से प्रदर्शित कर सौन्दर्य को ध्यान में रखते हुए अलंकृत किया जाता है। ठुमरी में दो रागों का मिश्रण भी बहुखूबी किया जाता है। श्रृंगारस से ओत–प्रोत यह गायन शैली भावपूर्ण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने में सक्षम है। यहां की ठुमरियों में ब्रजभाषा, उर्दू शब्दों का प्रयोग होता है। साठ साल पूर्व ठुमरी गायकी को शास्त्रीय संगीत (पक्का गाना) की श्रेणी से दूर रखा जाता था। उस समय एकमात्र सिद्धेश्वरी देवी को छोड़कर गिरिजा देवी ने ही अप्रत्याशित कार्य किये। सिद्धेश्वरी देवी जी ने ठुमरी दादरा को पूर्ण रूप से शास्त्रीयता के अनुरूप बनाया परन्तु ठुमरी गायिका गिरिजा देवी जी ने सरसता एवं जन सामान्य का ध्यान रखते हुए गिरिजा देवी ने उसमें साहित्य से पद लेकर ठुमरी गायकी को नवीन आयाम दिया। जिसके कारण पूरब अंग की गायकी को एक नई शान, एवं दिशा प्राप्त हुयी। ठुमरी की मलिका गिरिजा देवी जी ने पीलू, पहाड़ी, गारा, खमाज रागों में ठुमरी गायकी में प्रयोग किया एवं वाजिद अली शाह की सुप्रसिद्ध बंदिश 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाए।" अपनी आवाज से हमेशा के लिए अमर कर दिया।[4] रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी देवी, शोभा गुर्टू, मैना देवी, गौहरजान, पं0 भोलानाथ भट्ट जैसे रत्नों के प्रयासों से बनारसी ठुमरी का विकास हुआ।

2. पंजाब अंग :– आज से साठ वर्ष पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में पंजाब अंग की ठुमरी प्रचलित हुई थी। ठुमरी की लोकप्रियता के कारण अनेक घरानेदार ख्याल गायकों ने भी इस शैली को अपनाया। पंजाब अंग की ठुमरियों में टप्पे तथा पंजाबी लोकगीतों का प्रभाव मिलता है। इस शैली को प्रोत्साहित एवं योगदान देने में विद्वान संगीतज्ञों में बरकत अली, आशिक अली अफज़ल हुसैन तथा स्व0 बड़े गुलाम अली खां आदि का नाम उल्लेनीय है। पूरब अंग की ठुमरी में पंजाब के लोकगीतों का पुट देते हुए ठुमरी की पंजाबी शैली विकसित हुई है। पटियाला घराने के उस्ताद बड़े गुलाम अली खां और बरकत अली ने पूरब अंग की ठुमरी को पंजाबी शैली से अपनी कल्पनानुसार पंजाब की लोकधुनों और विशेष तरीके से स्वरों का समावेश करके अपनी प्रतिभा से चार चांद लगा दिये तथा पंजाब में गाये जाने वाले टप्पा, माहिया, सिंधी–काफी, हीर इत्यादि लोकधुनों का रंग देकर पंजाब अंग की ठुमरी के रूप में परिवर्तित कर दिया। दोनों शैलियों में बृजभाषा, अवधि, भोजपुरी भाषा का प्रयोग मिलता है। अन्तर सिर्फ पंजाबी लोक संगीत की छाया का है। यहाँ की ठुमरी की कण, मुर्की, खटका, छोटी–2 तानों का समावेश मिलता है। उदाहरण के लिए राग पहाड़ी में एक ठुमरी का विवरण प्रस्तुत है –

सा– माध्यम को सा मानकर गायी गयी है।

तो ऽ री तिरछी ऽ नजरिया ऽ के बान
प पध प ग ग प प ध सा रे गमग खटका है.....गरेसा
ओ नजरिया ऽ के बा ऽ ऽ ऽ ऽ न ऽ
म म म म गम म म प ध प म ग ग ग, ग, ग म ग ग रे सा[5]

प्रस्तुत ठुमरी में किस प्रकार से कहाँ पर पर अपनी कुशल–प्रतिभा से भावों का प्रदर्शन करना, किस शब्द को विभिन्न प्रकार से आवाज को ऊँचा–नीचा करके भाव पैदा करना है। उचित ढंग से मुर्की, खटके को लगाने के ढंग को प्रस्तुत करना कलाकार की कल्पना शक्ति एवं प्रस्तुतिकरण पर निर्भर करता है। ठुमरी गायन शैली में सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करने में स्वरों के साथ शब्दों की भी चयनदारी आवश्यक है। स्वर और शब्द मिलकर ही सौन्दर्य के दर्शन कराने में सक्षम हैं। कई प्रसिद्ध ठुमरियों की रचनाओं में श्रृंगारिक रति भाव की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। ठुमरी शैली में प्रयोग किये जाने वाले राग सरल कोमल एवं मधुर हैं, राग खमाज, तिलककामोद, भैरवी, पीलू, पहाड़ी, धानी, तिलंग, देस, झिंझोटी इत्यादि ठुमरी

गायकी के लिए उपयुक्त हैं, क्योंकि इन रागों में श्रृंगारिकता का भाव प्रदर्शित होता है एवं इनकी प्रकृति चंचल मानी गयी है। गम्भीर प्रकृति वाले राग ठुमरी में प्रयोग नहीं होते, क्योंकि वे ठुमरी के लिए प्रभावित नहीं होते। ठुमरी स्वतंत्र रूप से रागों को मिश्रित करके गायी जाने वाली शैली है।

ठुमरी गायन शैली का एक महत्वपूर्ण स्थान हैं। अधिकतर कलाकार ख्याल गाने के बाद ठुमरी को गाते हैं। यह एक ऐसी विशिष्ट शैली है, जिसका सौन्दर्यात्मक स्वरूप एवं रंगीन मिज़ाज सामान्य जनता के हृदय में अपना स्थान बनाया। अपने रसीलेपन स्वभाव के कारण आज कलाकार गज़ल, भजन गीत आदि में ठुमरी की विशेषताओं के मिश्रण करके नवीन खोज से श्रोताओं को सौन्दर्यानुभूति कराने में सफल हो रहे हैं, एवं मानव में उत्पन्न श्रृंगारभाव और आकर्षण प्रस्तुतिकरण आदि ही ठुमरी का सौन्दर्यात्मक रूप हैं।

संदर्भ सूची

1. सफर ठुमरी का – अंजली पोहनकर पृ0 – 1
2. स्वरयोगिनी डॉ0 प्रभा अत्रे – डॉ0 चेतना बनावत पृ0 84
3. हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र भाग–3 भगवत चरण शर्मा – पृ0 75
4. संगना (पत्तिका) जुलाई–सितम्बर 2011 पृ0 81–83
5. सफर ठुमरी का पृ0 28

सरस्वती विद्या मन्दिर का संक्षिप्त परिचय एवं अन्य विद्यालयों के साथ संगठनात्मक वातावरण की तुलना

डॉ. रीना चन्द्रा*

भारतीय संस्कृति में शिक्षा को पवित्रतम् प्रक्रिया माना गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञान को पवित्रतम् घोषित किया है – "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। महाभारत में कहा गया है – "नास्ति विद्या समं चक्षुः" अर्थात विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता। भारतीय दर्शन में अज्ञान को अंधकार और ज्ञान को प्रकाश माना गया है। शिक्षा एक प्रकाश है। अतः अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाना ही शिक्षा का प्रमुख कार्य है– "तमसो मा ज्योतिर्गमय"। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य प्राचीन काल से आज तक, यही रहा है कि "शिक्षा द्वारा राष्ट्र एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बालक/बालिकाओं (भावी नागरिकों) को इस तरह संस्कारित करना कि वे उपयोगी नागरिक के रूपमें अपने दायित्व को समझ सकें और वहन कर सकें तथा समाज को सही नेतृत्व प्रदान कर सकें"। अतएव, शिक्षा की तुलना उस धुरी से की जा सकती है जिस पर समाज का सर्वांगीण विकास निर्भर है। शिक्षा के माध्यम से ही शिक्षक, समाज को सुसंस्कारित कर, संस्कृति का निर्माण एवं परिवर्धन करते हैं। इसलिए महर्षि अरविन्द ने कहा कि – "शिक्षक, राष्ट्र की संस्कृति के चतुर माली होते हैं। संस्कृति ज्ञान व्यवहार, विकास की उन आदर्श पद्धतियों तथा ज्ञान और व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को कहते है, जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है।" संस्कृति का सम्बन्ध उच्चतम् मानवीय मूल्यों से होता है। इन मूल्यों की उपलब्धि, उनका ज्ञान, उनका अनुभव, एवं उनका प्रचार–प्रसार शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित ऐसी शिक्षा ही यथार्थ में सद्विद्या होती है जो विद्यार्थी को मानवीय संवेदनाओं से ओत–प्रोत कर देती है।

शिक्षा और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा, संस्कृति के लिए अग्रांकित चार कार्य करती है –संस्कृति का संरक्षण, संस्कृति का हस्तान्तरण, संस्कृति का परिशोधन तथासंस्कृति का सृजन।

समाज ने औपचारिक रुप से शिक्षा प्रदान करने का दायित्व मुख्यतः विद्यालयों को सौंपा है। विद्यालय का शाब्दिक अर्थ विद्या का आलय अर्थात् विद्या का घर है। आज विद्यालय ऐसी सामाजिक संस्थाओं के रुप में देखे जाते हैं जहाँ बच्चे अपनी रुचि, रुझान और योग्यतानुसार अपना विकास करते हैं। हाँ, सामाजिक मान्यताओं का बन्धन उन्हें अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। शिक्षार्थियों के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया में विद्यालय में अनेक प्रकार केप्रयत्न किये जाते हैं। विद्यालय को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हो इसके लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय का वातावरण संस्कार क्षम हो और सदैव यह ध्यान रखा जाय कि उनके द्वारा निर्मित भावी पीढ़ी ही हमारे देश की कर्णधार है जो कि हमारे देश के भविष्य निर्माता हैं और वे हमारी संस्कृति के संरक्षक एवं संवाहक हैं।

हमारे देश में आज अनेक प्रकार के विद्यालय (या शिक्षण–संस्थाएं) विद्यामान, हैं कोई सरकार द्वारा संचालित 'राजकीय' हैं, कोई प्रबन्ध समितियों द्वारा संचालित 'सहायता प्राप्त' व "मान्यता प्राप्त" और कोई निजी संस्थाओं द्वारा संचालित "वित्त विहीन मान्यता प्राप्त"।

एक विद्यालय द्वारा अपने विद्यार्थियों को समाज के उपयोगी नागरिकों के रूप में किये गये प्रयास

* अध्यक्षा एवं एसोसिएट प्रोफेसर शिक्षा शास्त्र विभाग, डी0 ए0 वी0 (पी0 जी0) कालेज, देहरादून।

से ही उस विद्यालय के अस्तित्व का औचित्य आंका जाता है और इसके अनुरूप ही समाज में उसे प्रतिष्ठित स्थान मिल पाता हैं।प्राचीन भारतीय समाज में विद्यालय को "पाठशाला" कहा जाता था जिन्हें विशिष्ट व प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था किन्तु कालान्तर में विदेशी शासन के कारण उसकी इस प्रतिष्ठा का ह्रास होता चला गया, यद्यपि इसके पीछे बहुत से कारण थे। स्वंतत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में वर्तमान भारतीय समाज की आशाऐं एवं आकांक्षायें लोकतन्त्र, सामाजिक–न्याय, समाजवादी समाज तथा धर्मनिरपेक्षता के आधार पर सामाजिक पुनर्निर्माण के रूप में व्यक्त की गयी है। इस दृष्टि से नागरिकों की तैयारी और उनमें वांछनीय अभिवृत्तियों का विकास करने का दायित्व विद्यालय पर ही रखा गया है। समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं की संरक्षता और नई पीढ़ी को उसके हस्तान्तरण का दायित्व भी विद्यालय पर ही है ताकि परिवर्तित स्थितियों व सामाजिक–परिवर्तन की प्रक्रिया में सांस्कृतिक–मूल्यों का लोप न होने पाये तथा उनका नवीन मूल्यों के साथ समुचित समन्वय बन सके। देश काल की स्थिति के अनुरूप पारम्परिक अनुपयोगी मूल्यों के त्याग एवं वांछनीय नवीन मूल्यों के ग्रहण से सामाजिक परिर्वतन लाने योग्य भावी नागरिकों के निर्माण का उत्तरदायित्व भी विद्यालय पर ही माना गया है। सभी को समान अवसर एवं योग्यता के आधार पर सामाजिक गतिशीलता हेतु प्रेरित करने के लिए एक कर्त्ता के रूप में विद्यालय की भूमिका की अपेक्षा की जाती रही है।

यह नितान्त सत्य है कि किसी भी विद्यालय में भवन, पाठ्यक्रम, समय–सारिणी, कक्षा–व्यवस्था व आचार्य–परिवार यह सब वाह्य रचना है, जो दृश्यमान होती है, परन्तु संस्कारक्षम् वातावरण एक ऐसा अदृश्य भाव– प्रधान तत्व है जो विद्यार्थी के जीवन को सतत् प्रभावित करता रहता है और दृश्यमान तत्वों को भी अनुप्राणित करता है। एक विद्यालय की सफलता उसके भौतिक संसाधनों (यथा उपकरण, भवन, पुस्तकालय आदि) तथा मानवीय–संसाधनों (प्रबन्धक, आचार्य, शिक्षणेत्तर कर्मचारी तथा विद्यार्थी आदि) पर निर्भर करती है। इन संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग से ही विद्यालय का शैक्षिक वातावरण अभीष्ट बन पाता है, जिनमें शिक्षा प्राप्त करके ही व्यक्ति सबके कल्याण, सुखी एवं निरोग हो जाने की कामना कर पाता है जैसा कि भारतीय संस्कृति में माना जाता है–सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःख भागभवेत्।। परन्तु आज सांस्कृतिक–बोध के नाम पर समाज में व शिक्षण–संस्थाओं में जो कुछ भी हो रहा है, वीभत्स हो रहा है, उससे न केवल हमारी पुरातन भारतीय संस्कृति बुरी तरह लहु–लुहान हो रही है अपितु एक प्रकार की अपसंस्कृति विकसित हो रही है। इसका कारण यह है कि हमारी वर्तमान शिक्षा–पद्वति अभी भी इस आधार पर आश्रित है जिसे परतंत्र भारत में मैकाले ने कभी राजनीतिक रूप से पराधीन भारत के नवयुवकों को मानसिक रूप से पराधीन बनाने के लिए लागू करवाया था। ब्रिटिश नीति का अन्धानुकरण करने वाली मैकाले की इस शिक्षा–पद्धति ने भारतीयों में न केवल अपने गौरवपूर्ण इतिहास एवं मान्यताओं के प्रति अनास्था, अवज्ञा तथा उपेक्षा भरी अपितु प्रत्येक अच्छी एवं उत्तम बात का उद्गम भारत के वाह्य–देशों में खोजने की प्रवृत्ति का भी विकास किया। अंग्रेजी शिक्षा ने विद्यार्थियों में ऐसी मानसिकता व बौद्धिकता का बीजारोपण किया कि उनमें भारतीय होने का गर्व तिरोहित होता चला गया। यहाँ तक कि अपने हाथ से कार्यकरना तथा मेंहनत करना उसे तुच्छ लगने लगा वह अकर्मण्य बनने लगा। उसमें स्वाधीनता की ललक के स्थान पर अंग्रेजियत पनपने लगी। इस रूप में अंग्रेजों ने भारतीय–शिक्षा को जड़मूल से उखाड़ने का प्रयास किया था पर इसमें वे पूरी तरह सफल नहीं हो पाये थे। इसका कारण यह था कि स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, पं0 मदनमोहन मालवीय, गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मागांधी जैसे महापुरूष अपने अन्य सामाजिक सुधार आन्दोलनों के साथ–साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी वे लोग नित् नये–नये प्रयोग करते रहे। उन्होंने अपने–अपने के प्रति दृष्टिकोण के

अनुरूप कई शिक्षण–संस्थाऐं स्थापित की और उनके माध्यम से राष्ट्रीय प्रवाह–धारा को अक्षुण बनाये रखा जैसे कि–आर्य समाज की गुरु कुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, शान्ति–निकेतन, बुनियादी शिक्षा का वर्धा आश्रम, पाण्डिचेरी–आश्रम एवं इसी प्रकार की कई अनेकों संस्थाएं।

इस तारतम्य में , सन् 1952 में शिक्षा के सम्बन्ध में विचार विमर्श करने के लिए गोरखपुर में एक बैठक बुलाई गयी। उसमें सभी का मत था कि देश में शिशु–शिक्षा की उपेक्षा हो रही है, शिशुओं में राष्ट्र–विरोधी संस्कार भरे जा रहे है। उस समय की "शिशु–शिक्षा" से सम्बन्धित चल रही "माण्टेसरी" तथा "कान्वेन्ट" पद्धतियों की बात आना स्वाभाविक था। ये दोनों पद्धतियाँ निस्संदेह विदेशी हैं, इनका लक्ष्य भारतीयों को "भारतीय" बनाना नहीं अपितु पाश्चात्य भाषा, वेशभूषा तथा विचार में ढ़ालना था। तब प्रश्न यह उठा कि इन सबसे हटकर क्या हम भारतवासी अपनी जीवन–दृष्टि से शिशु–शिक्षा का विकास नहीं कर सकते ?इस प्रश्न पर बैठक में गहन चर्चा हुई और सभी ने यह तय किया कि शिशु–विद्यालय की स्थापना कर प्रयोग किया जाय। इसके तुरन्त बाद शिशु–विद्यालय के नामकरण पर अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये। तब सर्व सम्मति से निर्णय हुआ कि विद्यालय का नाम "सरस्वती शिशु मंदिर" रखा जाय क्योंकि भारतीय संस्कृति में सरस्वती ही हमारी ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। शुभ्र–वसना, वीणा–पाणिनी, पुस्तक–धारिणी, मन्द–मन्द मुस्काती, हंस पर विराजमान सरस्वती देवी माँ की गोद में गया शिशु सहज ही माँ से शुभता, ज्ञान, आचार और पवित्र जीवन की शिक्षा प्राप्त कर लेगा। "सरस्वती" के नाम मात्र से ही हमारा शिशु हमारी ज्ञान की सर्वोत्तम परम्पराओं से जुड़ जाता है। अतः "सरस्वती" नाम अत्यंत सार्थक समझा गया। इस तरह सन् 1952 में स्वर्गीय श्री कृष्ण चन्द गान्धी जी की प्रेरणा से प्रथम सरस्वती शिशु मंदिर की स्थापना उत्तर–प्रदेश के गोरखपुर नगर में हुई। सरस्वती शिशु मंदिर की अभिनव शिक्षण–पद्धति ने अल्प अवधि में ही समाज में उत्कृष्ट स्थान बनाने में सफल रही और इसका आकर्षण व प्रभाव ऐसा निर्मित हुआ है कि आज इस पद्धति पर चलने वाले हजारों सरस्वती शिशु मंदिर सम्पूर्ण भारत में स्थापित हो चुके हैं तथा देश के प्रत्येक प्रदेश में, जम्मू–कश्मीर से लेकर केरल–तमिलनाडु तक एवं मणिपुर–आसाम से लेकर गुजरात–काठियावाड़ तक, सरस्वती शिशु मंदिरों काजाल बिछ गया है। सन् 1958 तक उत्तर–प्रदेश में 19 ऐसे विद्यालय खुल गये। योजना के विस्तार एवं विकास के लिए तथा प्रबन्धन में एकरूपता लाने के उददेश्य से "शिशु–शिक्षा प्रबन्ध समिति, उत्तर–प्रदेश" का गठन किया गया।

व्यक्ति के जीवन में 10 वर्ष तक की आयु सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। इस आयु में प्राप्त ज्ञान एवं संस्कार जीवन पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। इस दृष्टि से सन् 1972 में अभिभावकों की इच्छा का सम्मान और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कक्षा–6 से ऊपर की शिक्षा की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। इसके लिए स्थापित किये गये विद्यालयों को "सरस्वती–विद्या मंदिर" नाम दिया गया। इस तरह कक्षा–5 तक की शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों को "सरस्वती शिशु मंदिर" तथा कक्षा–6 से ऊपर की (अधिकतम् कक्षा–12 तक) कक्षाओं का शिक्षण करने वाली संस्थाओं (स्कूलों) को "सरस्वती विद्या मंदिर" (या आदर्श विद्या मंदिर) कहा गया। इन संस्थाओं में विद्यार्थियों को हर प्रकार की चुनौती का सामना करने और हर चुनौती में देश हित ही सर्वोपरि है का पाठ पढ़ाया जाता है। इस योजना को प्रारम्भ करने की कल्पना प0 पू0 श्री गुरू जी भाऊराव देवरस, नाना जी देशमुख, हनुमान प्रसाद पोद्धार, श्री कृष्ण चन्द गांधी आदि श्रेष्ठजनों के मार्गदर्शन और आशीर्वाद से प्राप्त हुई। इस तरह से समाज और राष्ट्र को शिक्षा के इस नये प्रयोग में भारत का गौरवपूर्ण भविष्य परिलक्षित हुआ। आज इन शिक्षण–संस्थाओं (विद्यालयों) का प्रबन्धन "विद्या–भारती अखिल भारतीय शिक्षा–संस्थान" के द्वारा किया जाता है। जिसकी स्थापना पंजीकरण सोसाइटी रजिस्ट्रेशन एक्ट 1861 सेक्शन 21 केअर्न्तगत 1977 में की गयी थी। "विद्या भारती अखित

भारतीय शिक्षा संस्थान" आज विश्व में एक बडे स्वौच्छिक "शैक्षिक – संगठन" के रूप में विकसित हो चुका है। इसका घोषित लक्ष्य है– इस प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना जो भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पर आधारित हो और हिन्दुत्वनिष्ठ तथा राष्ट्रभक्त व्यक्तियों का निर्माण करे। जहाँ मैकाले की शिक्षा–प्रणाली व्यक्तियों को केवल "अर्थ" या "काम" की चिन्ता से ग्रस्त करके मात्र "मशीन" बनाती है वहीं विद्या भारती की शैक्षिक–प्रणाली "मनुष्य" का सही अर्थों में निर्माण करती है जिसमें व्यक्ति "स्व" के साथ–साथ "राष्ट्र" के विषय में भी चिन्तन करता है। यहाँ प्रणाली से तात्पर्य समग्रता, परस्पर पूरकता, स्वनियंत्रण एवं स्वचालन से है।

विद्या भारती की शैक्षिक–प्रणाली का उद्देश्य हिन्दुत्वनिष्ठ, राष्ट्रभक्त व्यक्तियों का निर्माण करना है। हिन्दुत्वनिष्ठ व्यक्ति का अर्थ होता है– हिन्दुस्तान में रहने वाला व्यक्ति जिसका पंचमुखी विकास (शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक) हुआ हो और जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों ही पुरूषार्थ के समन्वित प्रयोग से निर्मित हो और जो राष्ट्रवादी विचार धारा से ओत–प्रोत हो। एक ऐसा परिपूर्ण मानव जो राष्ट्रधर्म पर डटा हुआ हो, जिसके मन में, बुद्धि में यह भाव कूट–कूट कर भरा हो कि मुझे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अभाव ओर दुःख से मुक्त करना है। ऐसा व्यक्ति जो राष्ट्र जीवन में समरसता, सुसम्पन्नता एवं सुसंस्कृति भरते हुए "वसुधैव कुटुम्बकम्" के दर्शन से अनुप्राणित हो।

अब प्रश्न उठता है कि "विद्या भारती" की प्रणाली ऐसे व्यक्तियों का निर्माण कहाँ करे ?इसी प्रश्न का उत्तर देने हेतु शिशु–मंदिरों /विद्या मंदिरों एवं अन्य प्रकार की शिक्षण–संस्थओं की स्थापना की गयी है। इन संस्थाओं में भारतीय संस्कृति, सभ्यता, मान्यताओं व परम्पराओं को आधार मानकर ही पाठ्यक्रम एवं अन्य क्रिया कलापों की रचना व संचालन किया जाता है।

सरस्वती विद्या मंदिरों एवं अन्य माध्यमिक विद्यालयों के संगठनात्मक वातावरण की तुलना करने के लिए सरस्वती विद्या मंदिर के साथ राजकीय विद्यालय, अल्पसंख्यक विद्यालय, श्री गुरूरामराय विद्यालय, अनुदानित संबद्ध विद्यालय एवं पब्लिक स्कूलों के संगठनात्मक निम्न चार्ट के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

निम्न चार्ट के द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि जहॉ राजकीय विद्यालयों का संचालन राज्य के शिक्षा अधिकारियों द्वारा निर्मित है वहीं सरस्वती विद्या मंदिरों व अन्य प्रकार के विद्यालयों का संचालन प्रबन्ध–समितियों द्वारा संचालित होता है। ये प्रबन्ध–समितियाँ प्रायः किसी अन्य संस्था या ट्रस्ट के अधीन कार्य करती हैं। इन प्रबन्ध समितियों में आजीवन व साधारण–सदस्य होते हैं जो अपने में से प्रबन्ध–समिति के पदधिकारियों का चुनाव करते हैं। इन प्रबन्ध समितियों का प्रति तीन या पांच वर्षों में चुनाव किया जाता है जो जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा नियुक्त पर्यवेक्षक की देख रेख में सम्पन्न होते हैं। केवल कुछ प्रतिष्ठित ट्रस्टों द्वारा निजी क्षेत्र में संचालित विद्यालयों का प्रबन्ध–संगठन पूरी तरह नामित सदस्यों द्वारा किया जाता है। इसी तरह सरस्वती विद्या मंदिरों की संचालन–व्यवस्था स्थानीय स्तर पर गठित प्रबन्ध–समितियों द्वारा की जाती है लेकिन प्रबन्ध–समिति का अप्रत्यक्ष नियन्त्रण, अखिल भारतीय विद्या भारती संस्थान के द्वारा नियुक्त प्रादेशिक, मण्डलीय, क्षेत्रीय निरीक्षकों का रहता है। इस स्तर पर संगठन–सचिवों की नियुक्ति की जाती है जिनके वाह्य निर्देशन पर प्रत्येक विद्या मंदिर चलता है। विद्यालय की प्रबन्ध समिति में प्रादेशिक निरीक्षक द्वारा दो दो सदस्य नामित किये जाते हैं जिनमें से एकशिक्षाविद् होता है। इन विद्यालयों के संगठन में नम्यता रहती है। इस तरह देखाजाय तो राजकीय विद्यालयों के बाद सरस्वती विद्या मंदिरों का संगठनात्मक पक्षबहुआयामी होता है। लेकिन पब्लिक स्कूलों

विद्यालयों के संगठनात्मक वातावरण का तुलनात्मक चार्ट

सरस्वती विद्या मंदिर	राजकीय विद्यालय	अल्पसंख्यक विद्यालय
इन विद्यालयों का संचालन अखिल भारतीय विद्या भारती शिक्षा संस्थान (लखनऊ) की नीतियों के अनुसार किया जाता है। संस्थान ने प्रदेश स्तर पर प्रादेशिक संगठन कार्यालय खोले हैं जिनमें प्रादेशिक निरीक्षक नियुक्त किये गये हैं। इनके अधीन मण्डलीय व क्षेत्रीय निरीक्षक कार्य करते हैं। प्रत्येक विद्यालय की प्रबन्ध समिति बनी है जिनमें प्रादेशिक निरीक्षण द्वारा दो–दो सदस्य नामित किये जाते हैं तथा अन्य पदाधिकारियों का चुनाव किया जाता है। प्रबन्ध समिति, विषय विशेषज्ञ, शैक्षिक– प्रमुख व सह–शैक्षिक प्रमुख की एक टीम बनाती है जो शिक्षकों के प्रशिक्षण व दायित्व देखती है तथा समय–समय पर विद्यालयी व्यवस्था का मूल्यांकन करती है। प्रबन्ध–समिति, विद्यालय की समय–सारिणी, शिक्षण–सामग्री, पुस्तकालय, परिचय–पत्र आदि की व्यवस्था करती है।	उत्तरांचल राज्य के शिक्षा विभाग द्वारा संचालित। शिक्षा–निदेशक (राज्य स्तर पर) ↓ संयुक्त निदेशक (मण्डल स्तर पर) ↓ जिला शिक्षा अधिकारी ↓ खण्ड शिक्षा अधिकारी (वि. खण्ड स्तर पर) ↓ उपखण्ड शिक्षा अधिकारी ↓ प्रधानाचार्य ↓ शिक्षक ↓ शिक्षक अभिभावक संघ — छात्र — शिक्षणेत्तर कर्मचारी	इनकी स्थापना अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा की जायी गयी है। ये निजी क्षेत्र के विद्यालय हैं। इनकी प्रबन्ध–समिति का स्वरुप अर्द्धसरकारी अल्पसंख्यक होता है। ऐसे अल्पसंख्यक विद्यालयों की प्रबन्ध–समिति के सदस्यों का नामांकन एवं चुनाव होता है जिसके लिए चुनाव–पद्धति जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा अनुमोदित होती है। विद्यालय की प्रशासन–योजना भी जिला शिक्षा अधिकारी के दिशा निर्देशों के अनुसार की जाती है। समय–समय पर विद्यालय की प्रबन्ध समिति, अपने अल्पसंख्यक समुदाय के मध्य सदस्यता अभियान चलाती है। प्रबन्धक ↓ प्रधानाचार्य ↓ शिक्षक ↓ शिक्षक अभिभावक संघ — छात्र — शिक्षणेत्तर कर्मचारी

श्री गुरु रामराय विद्यालय	अनुदानित सम्बद्ध विद्यालय	पब्लिक स्कूल
श्री गुरु रामराय ट्रस्ट, सोसाइटीज एक्ट के अर्न्तगत पंजीकृत है। इसका मुख्यालय देहरादून नगर में स्थित है। इस संस्था द्वारा कई स्थानों पर अपने विद्यालय स्थापित किये हैं। यह राज्य सरकार से कोई अनुदान नहीं पाते हैं, केवल मान्यता प्राप्त हैं। जिला शिक्षा अधिकारी के दिशा निर्देशों के अनुसार विद्यालयों की शैक्षिक–व्यवस्था का संचालन होता है लेकिन विद्यालय की प्रशासनिक व्यवस्था चलाने हेतु श्री गुरु रामराय ट्रस्ट द्वारा ही निर्देश मिलते हैं। विद्यालय का संचालन प्रबन्ध–समिति द्वारा किया जाता है। इसका निर्वाचन नवीन संशोधित प्रशासन–योजना के अर्न्तगत कराया जाता है। श्री गुरु रामराय दरबार साहिब के आजीवन सदस्य, विद्यालय प्रबन्ध समिति के आजीवन सदस्य होते हैं। साधारण सभा के साधारण–सदस्यों (आजीवन सदस्यों के अतिरिक्त) की सदस्यता निर्धारित शुल्क प्राप्त कर प्रबन्ध समिति द्वारा स्वीकार कर ली जाती है। प्रत्येक विद्यालय के लिए श्री गुरु रामराय दरबार के महन्त जी पदेन प्रबन्धक होते हैं जबकि उपप्रबन्धक, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष तथा अन्य सदस्य प्रबन्ध समिति के सदस्यों में से चुने जाते हैं। प्रशासन योजना के अन्तर्गत चुनाव प्रति तीन वर्ष में होते हैं। जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा उनका अनुमोदन किया जाता है।	ये वे विद्यालय हैं जिनकी मान्यता, राज्य के शिक्षा – विभाग द्वारा प्रदान की जाती है तथा जिन्हें राज्य सरकार द्वारा आर्थिक–अनुदान दिया जाता है। इस दृष्टि से इन्हें अर्धसरकारी कहा जा सकता है। इन विद्यालयों का संचालन जिला शिक्षा अधिकारी/खण्ड शिक्षा अधिकारी के दिशा–निर्देशों के अर्न्तगत किया जाता है। विद्यालय की व्यवस्था करने के लिए एक प्रबन्ध–समिति का गठन किया जाता है जो कि जिले के निबन्धन–कार्यालय में पंजीकृत होती है। यह प्रबन्ध समिति, प्रत्येक तीन वर्षों में अपने सदस्यों का चुनाव कराती है तथा इसके सदस्यों का अनुमोदन जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा किया जाता है। प्रबन्ध समिति में आजीवन व साधारण दोनों प्रकार के सदस्य रहते हैं और अपने सदस्यों में से ही प्रबन्ध–समिति के सदस्यों का चुनाव करते हैं। इन्हीं सदस्यों में से एक प्रबन्धक चुन लिया जाता है। प्रबन्धक के अतिरिक्त प्रत्येक प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष व साधारण सभा के सदस्य होते हैं। विद्यालय में प्रधानाचार्य के कार्यों में सहायता हेतु शिक्षक अभिभावक संघ का गठन भी किया जाता है। जिला शिक्षा अधिकारी ↓ खण्ड शिक्षा अधिकारी ↓ प्रबन्धक ↓ प्रधानाचार्य ↓ शिक्षक ↓ शिक्षक अभिभावक संघ — छात्र — शिक्षणेत्तर कर्मचारी	पहले ट्रस्ट का निर्माण होता है, ये सोसाइटीज एक्ट के अर्न्तगत, पंजीकृत ट्रस्ट के अधीन कार्य करते हैं। इसके अन्दर निम्न पदाधिकारी बनाये जाते हैं – अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव, कोषाध्यक्ष, प्रधानाचार्य के प्रतिनिधि, अभिभावकों के प्रतिनिधि सदस्य। कुल 11 व्यक्ति कार्य करते हैं। ट्रस्ट में आजीवन व साधारण–सदस्य बनते हैं, लेकिन ट्रस्ट इसके लिए कई शर्तें लगाता है। ट्रस्ट में विश्वास रखने वाले व्यक्ति ही शर्तें पूरी करने पर सदस्य बनाये जाते हैं। ट्रस्ट द्वारा स्थापित विद्यालय, सरकारी अनुदान नहीं लेता है। विद्यालय का संचालन एक प्रबन्ध–समिति द्वारा किया जाता है। प्रबन्ध समिति का प्रबन्धक, ट्रस्ट का सचिव ही रहता है जबकि सामान्यतः ट्रस्ट के पदाधिकारी ही विद्यालय प्रबन्ध–समिति में पदाधिकारी रहते हैं। इन विद्यालयों का संचालन जिला शिक्षा अधिकारी (राज्य सरकार द्वारा मान्यता की दशा में) अथवा सहायक आयुक्त (केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित संस्थाओं द्वारा मान्यता की दशा में, जैसे CBSE, ICSSE आदि) के आंशिक दिशा–निर्देशों के अनुसार किया जाता है। विद्यालयों की दैनिक व्यवस्था निम्नवत् रहती है– सचिव ट्रस्ट ↓ प्रबन्धक ↓ प्रधानाचार्य ↓ शिक्षक ↓ शिक्षक अभिभावक संघ — छात्र — शिक्षणेत्तर कर्मचारी

की प्रबन्ध–समिति का संगठन बहुत दृढता से कार्य करता है ताकि उनके स्तर में कोई कमी न आने पाये।

सुझाव

1. सरस्वती विद्या मन्दिरों के मूल्यों द्वारा पाश्चात्य सस्कृति का छात्रों का अंधाअनुकरण दूर किया जा सकता है।
2. अन्य विद्यालयों प्राचार्यो एवं शिक्षको को सरस्वती विद्या मन्दिरों के मूख्य तत्वों से प्रेरणा लेकर छात्रों मे नैतिकता और चरित्रता का विकास करना चाहिए।

संदर्भ शोध ग्रन्थ सूची

1. पाण्डेय, डा0 विष्णु प्रकाश, शिक्षाविद् सदस्य विद्यालय प्रबन्ध समिति, सरस्वतीविद्या मंदिर, खैर मार्ग अलीगढ़ द्वारा "सरस्वती शिशु मंदिर–शिक्षा की श्रेष्ठ परम्परा"शीर्षक से प्रकाशित पत्रक।
2. लज्जाराम तोमर, विद्या भारती चिन्तन की दिशा, प्रकाशकः विद्या भारती अखिल भारतीय शिक्षा संस्थान/ संस्कृति भवन, कुरूक्षेत्र – 136118 (हरियाणा)।
3. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, प्रकाशक विद्या भारती संस्कृति शिक्षा संस्थान, संस्कृति भवन, कुरूक्षेत्र – 136118
4. श्री ब्रहमदेव शर्मा (भाई जी), संगठन मंत्री, विद्या भारती अखिल भारतीय शिक्षा संस्थान का लेख "विद्या भारती की पहचान''।

ब्रज के भित्ति चित्रों का तकनीकी विश्लेषण

दीपा कुशवाह *

भारत देश की संसति के द्वारा उसकी आध्यात्मिक, वैज्ञानिक तथा कलात्मक उपलब्धियों का ज्ञान प्राप्त होता है। यह संसति एवं कला उस सम्पूर्ण देश के मानसिक स्तर को दर्शाती है। भारत देश में उत्तर प्रदेश राज्य में बृज शैली का उदय हुआ, जिसमें भारतीय चित्रकला में बृज की लोक कलाओं व भित्ति चित्रणों का अपना–अपना महत्व है। बृज की कला विभिन्न रियासतों के संरक्षण में पनपीं। बृज में मथुरा जनपद धार्मिक और कलात्मक दृष्टि से काफी प्रसिद्ध रहा है। वैसे तो सारा का सारा बृज ही कला निधियों से भरा पड़ा है। यहीं बृज के पास बृज से जुड़ा राजस्थान है। इस कारण राजस्थान शैली का प्रभाव बृज चित्रण में देखा जा सकता है। बृज के चित्रों में राधा–कृष्ण के चित्र दिये गये हैं। राजस्थान शैली के भित्ति चित्रों में बह्मा, विष्णु और महादेव शिव का समाज में महान आदर और सम्मान था। इनमें तीनों देवताओं के चित्र भी चित्रित किये गये हैं। बृज के भित्ति चित्रों पर विभिन्न शैलियों का समन्वय दिखाई देता है।

भित्ति चित्रकारी का प्रचलन लगभग प्रत्येक देश में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। प्रारम्भिक काल में यह कला अविकसित थी और तकनीकि भी काफी साधारण थी। जिसमें कि रंग को सीधे पत्थर पर लगाकर चित्र बनाया जाता था। तद्नोपरान्त अधिक जटिल डिजाइन और चित्र दीवारों पर बनाये जाने लगे। जिन्हें अक्सर पलस्तर की अनेक सतहों द्वारा तैयार किया जाता था।

जब एक चित्र बन जाता तो कुछ समय तक तो वह सही रहता परन्तु जल्द ही उसमें विघटन और ह्रास शुरू हो जाता और फिर नये तरह के प्रयोग किये जाते थे।

श्रीकृष्ण जन्मोत्सव, छतरी चित्रण

साहित्य और शिल्पग्रंथों में चित्रण के लिये अधिकांशतः भित्ति का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। पट्–चित्र तथा पट्–चित्र के विषय में विस्तृत विवरण नहीं मिलते हैं। भित्ति–चित्रण के लिये प्रयुक्त सामग्री तथा उसके अनुपात के साथ उपयोग का विवरण चित्रसूत्र में विस्तार में दिया गया है। बारहवीं शताब्दी के चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वारा रचित अभिलाषितार्थ चिन्तामणि में नाट्यमंडप की सज्जा में भित्ति चित्रण विधान का उल्लेख मिलता है यथा भित्ति संस्कार, वज्रलेप, वर्णविधान, तलिका आदि। नारदशिल्प में चित्र को तीन भागों या समूहों में विभाजित किया गया है–भौमिक, कुड्यक तथा अर्ध्वक अर्थात् भूमि पर, भित्ति पर तथा छत पर बने चित्र।

चित्रण–सामग्री एवं विधान के दृष्टिकोण से चित्रण तकनीकि में भित्ति–चित्रण सबसे पृथक विधा है, जो अपने अधिकांश रूप में लघु–चित्र, पुस्तक चित्र तथा पट चित्रों पर बने चित्रों से भिन्न हैं। विस्तृत, अन्तराल, दृढ़ चित्रभूमि, की तैयारी, रंगों का चुनाव तथा रंगों की प्रकृति का अनुभव और परम्परागत सिद्ध

* छात्रा, मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़

अनुभव आदि के कारण जितना परिश्रम तथा दक्षता भित्ति–चित्रण में अपेक्षित है अन्य तकनीकों में नहीं है।

भित्ति चित्रण के उदाहरणों की शुरूआत लगभग प्रागेतिहासिक काल में ही मिले इन चित्रों की समयावधि बीस हजार से दस हजार वर्ष ई0 पूर्व तक के प्राचीन माने जाते हैं। ये चित्र गुफा चित्रों के रूप में विद्यमान है। यह चित्र आदि मानव द्वारा चित्रित किये गये थे जिसमें उन्होंने अपने भावनाओं को आड़ी तिरछी रेखाओं द्वारा व्यक्त किया है। प्रागेतिहासिक काल के चित्र अनेक स्थानों से प्राप्त होते हैं जैसे–मिर्जापुर, जोगीमारा, सिघनपुर आदि स्थानों की चट्टानों पर चित्र प्राप्त हुए है इन चित्रों में पशु–पक्षी, कीड़े, मनुष्य, सूअर आदि को लाल पीले रंगों से चित्रित किया गया है।

इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर भी प्रागैतिहासिक चित्र प्राप्त हुए है। जिसमें सबसे अधिक चित्र भोपाल के निकट भीम बैठिका से प्राप्त हुए हैं। सामान्यतः प्रागैतिहासिक शिला चित्रों शिल्प विधान निम्न प्रकार है–

1. रंगों में गेरू, खड़िया, रामरज और काले रंग की जगह कोयले को प्रयोग किया जाता था।
2. चित्रण के लिये गुफाओं की खुरदरी दीवार ही प्रयोग में लेते थे।
3. रंगों को मिलाने तथा एक पदार्थ के रूप पशुओं की चर्बी मिलाया करते थे।
4. शरीर में रंग सपाट या पट्टियां बनाकर भर दिये हैं कहीं कही आलेखन भी बनाये हैं।
5. चित्रण सूखी दीवार पर किया गया है।

प्रागैतिहासिक युग के पश्चात भित्ति चित्रों का दूसरा महत्वपूर्ण युग अजन्ता की गुफाओं के रूप में प्राप्त होता है। इस युग का चित्रण विधान निम्न है।

जिस स्थान पर चित्रण करना होता था उस स्थान के पत्थर को पहले किसी नुकीले हथौड़े से खुरदरा कर देते थे। इस पर गोबर, बालू, चिकनी मिट्टी, शंखचूर्ण तथा पत्थर अथवा ईंट का चूरा मिलाकर लेप किया जाता था। इसमें बेल का गूदा, तेल, उड़द का पानी आदि भी मिलाते थे। इसके चट्कने का डर होता था अतः इसमें धान की भूसी भी मिला दी जाती थी। इस तरह की दो परतें चढ़ाई जाती थी। एक सा करने के पश्चात् शीरा, वृक्षों का दूध तथा सरेस मिलाकर लेप करते थे। इस पर चूना पोतने के पश्चात सूखे काजल की बत्ती से रेखाकंन करते थे। स्केच की आकृति को पीले रंग से भरकर रेखा को मिटा देते थे और गेरूए रंग से पुनः रेखाकंन करते थे। फिर स्थानीय रंग लगाने के पश्चात् छाया प्रकाश दिखाने के लिए उसी रंग को कुछ गहरा लगाते थे। इसके पश्चात् इसमें अन्तिम स्पर्श लगाते थे। मांसल शरीर के चित्रण में गुलाबी तथा भूरे रंग का प्रयोग किया जाता था। बालों के लिए काले रंग का प्रयोग होता था। प्रायः गहरी पृष्ठभूमि में हल्के रंगों से आकृतियां बनाई जाती थी और दूरी के लिए हल्की पृष्ठभूमि पर गहरे रंग की आकृति बनाई जाती थी।

यह रंग कही–कहीं इतनी उत्तम कोटि के लगाये गये हैं कि आज भी चमकते है। रंगों को मिलाकर मिश्रित रंग नहीं बनाये गये है। शुद्ध रंगों का ही प्रयोग हुआ है। अजन्ता चित्रण की यह परम्परा अन्य गुफा चित्रों में भी प्रयुक्त हुई है। जैसे–ऐलोरा अथवा वेरूल, बादामी, सिन्तन्नवासल गुफाये, बाघ, गुफायें आदि।

इसके पश्चात् मुगल कला के भित्ति चित्रों में तकनीकि और निर्माण सामग्री में बदलाव आ गया। यद्यपि दीवारें भारतीय विधि से बनाई परन्तु मिट्टी का लेप नहीं किया। मुगलकालीन भित्ति चित्र इटली की देन है। जयपुर में आज भी इसी पद्धति द्वारा भित्ति तैयार करते हैं। चूने को एक सप्ताह पानी में भिगोकर उसमें दुगुनी बालू मिलाते है। दीवार भिगोकर इसका पलस्तर चढ़ाते हैं। लकड़ी के मोंगरे से इसे

खूब पीटते हैं। कुछ सूखने पर पानी से तर करके पुनः दूसरी परत चढ़ाते हैं। इस प्रकार इसे लगभग 1/4 इंच मोटा कर लेते हैं। सबसे ऊपर संगमरमर का चूना चढ़ाया जाता है। इसे बड़ी सावधानी से बनाया जाता है प्रति एक मन सूखे चूने में एक सेर के हिसाब से दही भी डाला जाता है। प्रतिदिन रात का भर का पानी निकाल दिया जाता है। एक सप्ताह बाद इसे दीवार पर उतने ही भाग पर लगाते है जितने पर एक दिन में कार्य हो सके। चित्रण के पूर्व इसे घोटकर खूब चिकना कर लिया जाता है।

मुगल काल में महलों की सजावट में भित्ति–चित्र बने हैं। आगरा एवं फतेहपुर सीकरी में अकबर ने और लाहौर तथा कश्मीर के राजकीय भवनों में जहांगीर ने भित्ति चित्र बनवाये। औरंगजेब ने इनमें से अधिकांश को मिटवा दिया था। जहाँगीर ने विभिन्न राजभवनों की दीवारों पर अनेक भित्ति चित्र तैयार कराये थे। इन्हीं के अनुकरण पर अन्य राजाओं ने भी अपने महलों में भी भित्ति चित्र बनवाये।

मुगल शैली में जो रंग प्रयोग किये गये हैं उनमें प्रधान 14 रंग निम्न है जिन्हें चार वर्गो में बांटा गया है। 1– खनिज 2– रासायनिक 3– जान्तविक 4– वानस्पतिक खनिज रंग गेरू, हिरोजी, रामरज, हरा ढाबा तथा लाजवर्दी है। इनमें गेरू, हरा ढाबा, तथा लाजवर्दी पत्थर है जिन्हें पीस कर बनाया जाता है। हिरोजी तथा रामरज तथा हराढाबा भारत में उपलब्ध है। और हिरोजी तथा लाजवर्दी फारस से मगाये जाते थे। इसके अलावा खनिज धातु के रूप सोने तथा चांदी के चूर्ण का प्रयोग मुगल चित्रकला में किया गया है।

रासायनिक रंगों में सफेदा, सिंदूर, प्यौड़ी, स्याही तथा जंगाल आते है। इनमें से कुछ धातुओं को फूककर रासायनिक क्रिया द्वारा रंग बनाये जाते थे। जान्तविक रंग में केवल गुलाबी रंग आता था। यह एक कीड़े से तैयार किया जाता था।

वानस्पतिक रंग पौधे से तैयार किये जाते थे जिसमें केवल नीले रंग का उल्लेख मिलता है। अपर्युक्त चौदह रंगों के अलावा भी रंग प्रयोग किये जाते थे जैसे–लाख से लाखी नामक रंग श्वेत रंग फूके जस्ते से, बाद में खड़िया को भी प्रयोग किया जाने लगा। मुगल चित्रकार आरम्भ में रंग बनाने में कुशल नहीं थे लेकिन बाद में निपुण हो गये थे वे अत्यन्त सावधानी से रंगों का निर्माण करने लगे थे। जब ये रंग चित्रों में लगाये जाते थे तो मणियों के समान चमकते थे। इसी के कारण लोगों में धारणा फैल गयी थी कि मुगल चित्रों में रत्नों को पीस कर प्रयोग किया जाता था किन्तु यह असत्य धारणा थी क्योंकि रत्न पीसने पर भूरे रंग का प्रभाव देते हैं।

इन मुगल शैली के रंगों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है।

1. चमकीले रंग– इनमें सिन्दूर, प्योडी, लाजवर्दी, हिंगुल, गुलाली तथा जंगाल आते हैं।
2. बुते रंग – इनमें गेरू, हिरौजी, रामरज, हराढ़ावा, नीले तथा स्याही आते हैं।
3. मिश्रित रंग– ये दो प्रकार के रंग होते हैं जो परस्पर मिलाकर बनाये जाते थे।

दूसरे वे जो किसी भी एक रंग श्वेत मिलाकर हल्के और काला मिलाकर गहरा प्रभाव देते थे।

इसी के साथ राजस्थान में अलग अलग क्षेत्रों और अलग–अलग स्थानों पर एक विशाल साम्राज्य के नष्ट होने के बाद स्थानीय शक्तियों का उदय हुआ और नये राज्य और उनके राजाओं की स्वतन्त्र शक्तियों का उदय हुआ। अब जो नये राज्य स्थापित हुए थे वे पूर्ण स्वतन्त्र थे। किन्तु फिर भी अपनी राज्य की सीमाओं को लेकर झगड़ों में लिप्त रहते थे। अतः मुगलों ने इन नरेशों की इस फूट का फायदा उठाया और इन राज्यों को अपने अधीन कर लिया।

लेकिन ये राजस्थानी नरेश संस्कृति को संरक्षण प्रदान करते थे। इनके आश्रय में चित्रकार भी रहा

करते थे। इन राजाओं के आश्रय में बने भित्ति चित्र भी प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण कर रहे थे। समयानुसार इनकी शैली में परिवर्तन होते रहे। मुगलों के साम्राज्य के फलस्वरूप यह मुगलशैली से भी प्रभावित हुए। और मुगल तकनीकी भी इन चित्रकारों ने अपनाई। इस प्रकार राजस्थानी राज दरबारों की कला, प्राचीन राजस्थानी लोक कलाओं से भिन्न होती चली गयी। यहां तक राजदरबारों में स्थानीय कलाकारों की अपेक्षा मुगल चित्रकार भी अपना योगदान देने लगे। इसके पश्चात हिन्दू राजाओं और महाराजाओं के दरबारों में जो चित्रण कार्य हुआ था उसमें मुगल शैली की तकनीकी का प्रयोग होने लगा था। इस प्रकार राजस्थानी भित्ति चित्रण केवल मुगल शैली की अनुकृति मात्र रह गया था। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत और दक्षिण भारत की भित्ति चित्रकला शैली गत चाहे भिन्नता दिखाई देती हो पर तकनीकि में एक समान हो गयी थी तकनीकि से इन दोनों में कोई भिन्नता नहीं थी।

ब्रज के भित्ति चित्रों की तकनीक –

ब्रज के भित्ति चित्रण में गोवर्धन का जो भित्ति चित्रण कराया था वह डीग और भरतपुर के राजा जवाहर सिंह ने कराया था। इस समय राजस्थान में जोधपुर, बीकानेर, बूंदी, कोटा, मेवाड़ उदयपुर और भरतपुर आदि स्थानों पर 18वीं शताब्दी के मध्य सबसे अधिक चित्रण कार्य कराये जाते थे। इन राज्य के राजाओं और धनी लोगों ने अपने महल, कोठी, छतरियों तथा सरोवर का निर्माण कराने के पश्चात भित्ति चित्रण अवश्य कराया करते थे। भित्ति चित्रण के बगैर तेा ये अपना महल पूर्ण नहीं समझते थे। इस कारण जाट, राजपूत, मराठों के शासन के समय चित्रकला की सबसे अधिक उन्नति हुई।

गोवर्धन क्षेत्र के भित्ति चित्रण इसी समय में चित्रित हुए हैं। कुसुम सरोवर का निर्माण जाट राजाओं के द्वारा कराया गया और राजा सूरजमल और जवाहरसिंह राजस्थान के राज्य भरतपुर, डीग और इनके अन्तर्गत आते प्रदेश–गोवर्धन जो बृज का महत्वपूर्ण धार्मिक और पवित्र स्थल माना जाता है और यह स्थल बृज चौरासी कोस के अन्तर्गत आता है। इस कारण कुसुम सरोवर के भित्ति चित्र राजस्थानी शैली के साथ साथ ब्रज चित्रकला से भी सम्बन्धित है।

ब्रज क्षेत्र की छतरियों में भित्ति चित्रण राजस्थानी तकनीकि के द्वारा हुआ है। कुसुम सरोवर की छतरियों का निर्माण पत्थर द्वारा हुआ है। लाल पत्थर की दीवारों पर पहले चूने का पलस्तर किया गया है। फिर इसकी सतह को मोटा और पीटकर चिकना किया गया है। चित्रण के पूर्व बनाये गये पलस्तर को लगाने से पहले दीवार पर आधे घण्टे तक पानी डालकर अच्छे से नम कर लिया जाता है। इसके पश्चात् दो भाग चूना और एक भाग बारीक संगमरमर का चूना मिलाकर उसका घोल बनाकर कूंची के द्वारा दीवार पर गाढ़ा–गाढ़ा पोता जाता है। फिर गोल और चिकने पत्थर से इसकी घुटाई की जाती है। यह क्रिया कई बार दुहराने के बाद दीवार की सतह काफी मोटी, चिकनी और एकसार हो जाती है। गीली दीवार पर ही कार्य किया जाता है और कार्य करते समय अगर दीवार सूखने लगे तो दीवार को पुनः गीला कर लिया जाता है। दीवार तैयार हो जाने पर उस पर रेखांकन किया जाता है। चूने का पलस्तर चढ़ाने से पहले सरेस का घोल भी लगा दिया जाता है। जिससे इसकी पकड़ काफी मजबूत हो जाती है।

चित्रण करने से पूर्व एक कागज पर रेखांकन कर लिया जाता है। इस कागज पर किये हुए रेखांकन पर सुई द्वारा छेद कर लिये जाते हैं। जिससे चित्रण का स्टेन्सिल तैयार हो जाता है। इस कागज

को दीवार पर रखकर एक कोयले के चूर्ण भरकर तैयार पोटली को रेखांकन पर झाड़ा जाता है। जिससे जो छिद्र इस कागज पर किये गये है उन छिद्रो से कोयला छनकर दीवार पर छोटे–छोटे बिन्दुओं के माध्यम से एक रेखांकन तैयार हो जाता है। फिर तूलिका द्वारा इन छिद्र रेखांकन को पूर्ण रेखांकन का रूप दे दिया जाता है। फिर तूलिका के द्वारा रंग भरे जाते हैं। अन्त में एक बार पुनः रेखांकन किया जाता है। बृज शैली के चित्रों में जो रंग प्रयोग हुए हैं वे खनिज, रासायनिक, और वानस्पतिक रंग है। लाल के लिए गेरू, हिरौजी, छिंगुल तथा सिन्दुर का प्रयोग किया गया है। पीले

छतरी चित्रण

रंग के लिये रामरज तथा प्यौडी प्रयोग में लाई गयी है। नीला रंग नील तथा लाजवर्दी से तैयार किया गया है। हरे रंग के लिये हरा ढाबा प्रयुक्त किया गया है। हरे रंग के लिए एक हरा पत्थर जयपुर के आस पास भी मिलता है। इस पत्थर का प्रयोग भी यहां हुआ है। काला रंग काजल से तैयार किया गया है। इसके अतिरिक्त सुनहरा कार्य करने के लिये सोने का वर्क भी प्रयोग में लाया गया हैं इन सभी रंगों में ब्राह्य पदार्थ के रूप में गरम पानी में सरेस को धोलकर तैयार किया गया है।

आभूषण इन चित्रों में सबसे बाद तैयार किये गये हैं। अतः सोने के अलंकरण के लिये सरेस को पानी में डालकर आग पर पकाते थे और थोड़ी सी चीनी डालने के बाद इसमें चिपचिपाहट आ जाती थी। इसे बत कहा जाता था। इस बत को उस स्थानों पर लगाया जाता था जहां सोने का काम करना होता था और फिर उन स्थानों पर सोने का वर्क लगा देते थे। जब वर्क चिपक जाता था फिर उस स्थान पर घुटाई करते थे। इससे जिन

छतरी चित्रण

स्थानों पर वर्क नहीं चिपकाना होता था वहां से वर्क हट जाता था और जहां वह पदार्थ लगा होता था वहां वह वर्क पक्का हो जाता था और उसमें चमक आ जाती थी। बारीक रेखांकन मे इस विधि को प्रयोग में नहीं लाया जाता था। उसके लिये सोने की

हलकारी तैयार की जाती थी हलकारी में सोने के वर्क पत्थर के पात्र जिसे खरल कहते हैं। शहद लगाकर चिपका लेते है। फिर इसमें बालू और पानी डालकर उंगली से मलते हैं। इससे वर्क छोटे–छोटे कणों में बदल जाता है। लगातार यह क्रिया करते रहने से यह स्वर्ण कण बारीक चूर्ण में बदल जाते हैं। इसमें मिली बालू को पानी से धोकर निकाल देते हैं। इस चूर्ण को गोद में घोलकर तूलिका के द्वारा प्रयोग में लाया जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओ0पी0 अग्रवाल – भित्ति चित्रों की जांच और संरक्षण
2. शची रानी – गुटूं कला दर्शन, पृष्ठ सं0 11
3. डा0 गिर्राज किशोर अग्रवाल – कला और कलम, पृष्ठ सं0 67, 185
4. प्रसाद गोपाल – (प्रकाशन–भरतपुर वैभव समिति) भरतपुर वैभव
5. अग्रवाल डा0 गिर्राज किशोर – कला और तकनीक
6. साखलकर रवि – (राज0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)
7. चहार गुलजार – तारीखें अहमद शाही
8. जघीना देशराज – जाट इतिहास

जी0 एस0 टी0 तथा राज्यों के राजस्व संग्रह में कमी व क्षतिपूर्ति

डॉ. अवतार दीक्षित*

आम बजट पेश होने के पश्चात जी0 एस0 टी0 को लागू हुए लगभग सात माह पूरे हो जायेगें, अभी तक का अनुभव यह बता रहा है कि व्यापारियो का एक वर्ग येन–केन प्रकारेण टैक्स वचाने वाले तौर–तरीको को अपनाये हुए है। जी0 एस0 टी0 की कंपोजीसन स्कीम के तहत जिन व्यापारियों ने अपना पंजीकरण कराया है उनसे अब तक बामुश्किल तीन सौ करोड रु0 का कर एकत्र हो पाया है, जबकि पंजीकरण कराने वाले व्यापारियो की संख्या 11 लाख से अधिक है। स्पश्ट है कि तमाम व्यापारी गलत तरीके से अपना टर्नओवर 20 लाख ही दिखा रहे है। जी0 एस0 टी0 काउंन्सिल की बैठक में वित मंत्री अरुण जेटली ने इसका उल्लेख भी किया है। उन्होने कहा कि राज्यो को इस छल–फरेब के प्रति सचेत रहना चाहिए। क्योंकि इससे राज्यों का कर संग्रह गिर रहा है तथा कर संग्रह गिरने का सीधा असर आम बजट पर पड सकता है। इसमें तमाम विकास योजनाए प्रभावित हो सकती है। जैसे– शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरुरतों के साथ सामाजिक योजनाओं पर राजस्व संग्रह में कमी विपरीत प्रभाव डाल सकती है।

जी0 एस0 टी0 लागू होने के बाद राज्यों के राजस्व संग्रह में कमी का सिलसिला थम नही रहा है। हाल यह है कि राज्यो के राज्स्व में कमी का आकडा क्षति पूर्ति सेस के रुप में सरकार को प्राप्त हो रही धनराशि से भी अधिक है। यदि सेस के संग्रह में बृद्धि नही हुई तो केन्द्र सरकार को राज्यो को होने वाली राजस्व क्षति की भरपाई अपने खजाने से करनी पडेगी।

जी0एस0टी0 कानून के तहत जी0एस0टी0 लागू होने के चलते राज्यों को जितनी राजस्व हानि होगी, केन्द्र सरकार उसकी भरपाई सेस से करेगी। जी0एस0टी0 कानून के तहत प्रत्येक राज्य के लिए अपेक्षित राजस्व संग्रह का एक आंकड़ा फिक्स किया गया है। और अगर वहॉ जी0एस0टी0 संग्रह ऑकड़े से कम रहता है तो उसकी भरपायी का दायित्व केन्द्र का होता है। ऐसे में यदि क्षतिपूर्ति सेस से कम राशि आती है तो फिर केन्द्र सरकार को अपने खजाने से राज्यों को क्षतिपूर्ति करनी होगी।

केन्द्रीय वित मंत्री अरुण जेटली की अध्यक्षता में जी0एस0टी0 काउसिंल की 25 बी बैठक में चालू वित बर्श में अब तक जी0एस0टी0 के संग्रह के ट्रेंड का जायजा भी लिया गया। जिसमें चौंकाने वाले तथ्य सामने आये। अब तक प्राप्त जानकारी के मुताविक अगस्त से दिसम्बर के दौरान क्षतिपूर्ति सेस से हर महीने औसतन 7615 करोड रुपये प्राप्त हुए है। जबकि इस दौरान राज्यों के राजस्व संग्रह में जो कमी रही है उसका आंकडा काफी अधिक है। उदाहारण के तौर पर दिसम्बर में ही सभी राज्यों को 8894 करोड़ रुपये राजस्व हानि हुयी जबकि इस महीने में क्षतिपूर्ति सेस से मात्र 7848 करोड़ रुपये ही राजस्व प्राप्त हुआ है।

यह आंकड़ा इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि जी0एस0टी0 कानून के तहत जी0एस0टी0 लागू होने के चलते राज्यो को जितनी राजस्व हानि होगी, केन्द्र सरकार उसकी भरपायी क्षतिपूर्ति सेसं से करेगी।

वास्तव में (1) जुलाई 2017 से जी0एस0टी0 लागू होने के बाद शुरुआती महीनो में राज्यों को

* असि0 प्रो. (वाणिज्य) राजकीय स्नात्कोत्तर महाविद्यालय, बिलासपुर, रामपुर

जी0एस0टी0 से प्राप्त होने वाले राजस्व में कमी का आंकड़ा अक्टूबर तक नीचे आया लेकिन नबम्बर में जी0एस0टी0 कांउसिल ने 200 से अधिक वस्तुओं और कई सेवाओं पर जी0एस0टी0 की दरें घटाने का फैसला किया जिसके बाद राज्यों के राजस्व संग्रह में कमी का आकड़ा अक्टूबर में 17.5 प्रतिशत पर आ गया था। लेकिन दिसम्बर में यह फिर से बढकर 20.7 प्रतिशत हो गया है। इस बीच कांउसिल ने तय किया कि आई0जी0एस0टी0 और एस0जी0 एस0टी0 के सेटलमेन्ट के बाद शष बची 1.35 लाख करोड़ रुपये की राशि को केन्द्र और राज्य में बॉट दिया जायेगा ताकि उनकी राजकोशीय स्थिति को बेहतर बनाया जा सके।

बिलम्ब शुल्क में कमी :– जी0एस0टी0 काउंसिल ने एक अन्य निर्णय में जी0एस0टी0आर0 1 रिर्टन दाखिल करने पर लगने वाला विलम्ब शुल्क घटाकर 50 रुपये प्रतिदिन कर दिया है। हालांकि यदि किसी कारोबारी का र्टन ओबर शून्य है तो उस पर यह फीस 25 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से लगेगी। साथ ही कर योग्य जिन असेसी ने जी0एस0टी0 में स्वैच्छित पंजीकरण कराया है। अब वे अपना पंजीकरण रद्द करा सकेगे। जिन लोगो ने जी0एस0टी0 में माइग्रेशन किया था वे भी 31.05.2018 तक अपना पंजीकरण रद्द करा सकेंगे।

जी0एस0टी0 व नोट बन्दी जैसे बड़े फैसलो के बाद भी अर्थव्यवस्था अनुमानित गति से आगे नही बड़ पा रही है। अर्थव्यवस्था के आगे न बड़ने का एक कारण है। मांग उत्पन्न न होना और इसकी दूसरी बड़ी वजह है। ग्रामीण आवादी की क्रय शक्ति न बढ़ना। यह क्रय शक्ति तभी बढ़ेगी जव खेती किसानी की दशा में कोई ठोस सुधार होगा।

जी0एस0टी0 ने दिखायी अर्थव्यवस्था की अनदेखी हकीकत

जी0एस0टी0 लागू होने से न सिर्फ परोक्ष कर आधार बड़ा है। बल्कि इसने भारतीय अर्थव्यवस्था की अनदेखी हकीकत से भी रुबरु कराया है। इस एतिहासिक परोक्ष कर के क्रियान्वयन के अब तक के विशलेशण से कई चौंकाने वाले तथ्य सामने आये है। पहली बार यह अनुमान लगाना सम्भव हुआ है। कि किस राज्य से कितना निर्यात हो रहा है। साथ ही देशो में संगठित क्षेत्र में कितने लोगो को रोजगार प्राप्त है। इसका रुझान भी जी0एस0टी0 के शुरुआती आंकड़ों ने दिया है जो सरकार के लिए नितिगत फैसलों में काफी मददगार साबित हो सकता है। बही इसके क्रियान्वयन के लिए जी0एस0टी0 काउंसिल के रुप में जो नायाब संघीय तंत्र बना है, वह राजनैतिक रुप से सम्वेदनशील लंम्बित सुधारो को लागू करने के लिए नजीर बन सकता है।

वित्त मंत्री अरुण जेटली ने 29.01.2018 को अर्थिक सर्वेक्षण 2017–18 लोकसभा में पेश किया। अर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार जी0एस0टी0 के क्रियान्वयन से परोक्ष कर आधार बढ़कर करीब डेढ़ गुना हो गया है। दिसम्बर 2017 तक जी0एस0टी0 में 98 लाख कारोबारियों ने पंजीकरण कराया है। जो पुराने कर आधार की तुलना में 34 लाख अधिक है। जी0एस0टी0 से पूर्व केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, सेवा कर और बैट की व्यवस्था में बहुत सी कम्पनियों ने अलग अलग टैक्स के लिए भिन्न पंजीकरण लिया था। और अगर इस तथ्य को ध्यान में रखे तो जी0एस0टी0 से परोक्ष कर में 50 प्रतिशत वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यो में जी0एस0टी0 के लिए पंजीकरण कराने वाले कारोबारियों की संख्या बड़ी है। तथा जी0एस0टी0 से राजस्व संग्रह में वृद्धि हुई है। जी0एस0टी0 लागू होने के बाद पहली वार निर्यात में राज्यों की हिस्सेदारी का आकलन करना सम्भव हो पाया है। पॉच राज्यो महाराश्ट्र, गुजरात कर्नाटक, तमिलनाडु और तेलगांना से ही देश का 70 प्रतिशत निर्यात होता है। जिन राज्यो से अर्न्तराज्जीय व्यापार और निर्यात अधिक है, वहा जीवन स्तर वेहतर है।

जी0एस0टी0 से 7.43 लाख करोड़ जुटाने का लक्ष्य

चालू वित्त वर्ष में सरकार को जी0एस0टी0 से भले ही उम्मीद से कम राजस्व मिला हो, लेकिन अगले वित्त वर्ष में केन्द्र का खजाना भरने में इस परोक्ष कर की अहम भूमिका रहेगी। सरकार ने वित्त वर्ष 2018–19 में जी0एस0टी0 से भारी–भरकम 743900 करोण रुपये जुटाने का लक्ष्य तय किया है। खास बात यह है कि सरकार इसमें से 90000 करोड रुपये की राशि राज्यो को जी0एस0टी0 के क्रियान्वयन के चलते राजस्व हानि की भरपाई के लिए खर्च करेगी।

भारत सरकार के राजस्व सचिव श्री हसमुख अढिया का भी कहना है कि चालू वित्त वर्श में जी0एस0टी0 से 4.44 लाख करोड़ रुपये राजस्व मिलेगा। जो अनुमान से 50000 करोड रुपये कम हैं। चालू वित्त वर्ष में जी0एस0टी0 संग्रह में कमी की एक वजह यह भी है। कि इस साल सिर्फ 11 महीने का ही जी0एस0टी0 प्राप्त होगा। क्योंकि मार्च के जी0एस0टी0 का संग्रह अगले साल अप्रौल में खजाने में आयेगा। हालाकि सरकार को उम्मीद है। कि अगले वित्त वर्ष में जी0एस0टी0 के क्रियान्वयन में स्थिरता आने तथा जी0एस0टी0 की चोरी रोकने के उपाए करने से राजस्व संग्रह में उछाल आयेगा। यही वजह है। कि वित्त मंत्री ने अगले वित्त वर्श के लिए जी0एस0टी0 से भारी भरकम धनराशि जुटाने का लक्ष्य रखा है।

वित्त मंत्री श्री अरुण जेटली ने आम बजट 2018–19 में जी0एस0टी0 से जो धनराशि जुटाने का लक्ष्य रखा है उसमें 6.03 लाख करोड रुपये जी0एस0टी0 से और 50 हजार करोड रुपये आई0 जी0एस0टी0 के जरिए जुटाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। इस बजट में सबसे खास बात यह है कि इसमें 90 हजार करोड रुपये का प्रावधान राज्यों को होने वाली राजस्व क्षति की भरपाई के लिए किया गया है। यह धनराशि उन राज्यों को दी जायेगी जिनका जी0एस0टी0 संग्रह निर्धारित लक्ष्य से कम है।

सरकार ने पूर्वोत्तर और हिमालयी राज्यों में स्थित औधोगिक इकाइयों को सी0 जी0एस0टी0 और आई0 जी0एस0टी0 के भुगतान की वापसी के लिए आम बजट 2018–19 में 1500 करोड रुपये का प्रावधान भी किया है, वित्त वर्श में इस पर 1440 करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है।

जी0एस0टी0 कानून के अन्य प्रावधान

जी0एस0टी0 कानून में होगे करीब चार दर्जन संशोधन

जी0एस0टी0 की दरे घटाकर आम लोगो को राहत देने के बाद सरकार अब रिर्टन प्रक्रिया आसान वनाने और जी0एस0टी0 कानून में बदलाव कर कारोबारियों को राहत देने की तैयारी कर रही है। जी0एस0टी0 कानून में करीब चार दर्जन संशोधन हो सकते है। अगले कुछ हफतो में जी0एस0टी0 काउंसिल इन इन सशोंधनो के मसौदो को अन्तिम रुप देगी जिसके बाद इन्हें संसद में पेश किया जायेगा।

सूत्रों ने कहा कि काउसिंल ने जी0एस0टी0 कानूनो की समीक्षा करने के लिए समिति का गठन किया था उसमें लगभग 4 दर्जन संशोधनों का सुझाव दिया है। फिलहाल इन संशोधनों के मसौदे पर विचार किया जा रहा है, इसके बाद इन्हे मंजूरी के लिए काउंसिल की बैठक में रखा जायेगा।

सूत्रों ने कहा कि समिति ने पंजीकरण से लेकर इनपुट टैक्स क्रेडिट, क्षतिपूर्ति सैस, आडिट और अपील से जुड़े प्रावधानों में संशोधन की सिफारिश की है समिति के औधोगिक सगठन फिक्की, एसोचैम और नैसकॉम जैसे संगठनो से मिले सुझावो के आधार पर इन संशोधनों की सिफारिश की है।

उल्लखनीय है कि 1 जुलाई 2017 से देश में जी0एस0टी0 लागू होने के बाद शुरुआती महीनो मे ही इसके अलग कानून मे बदलाव की जरुरत पडी है। सूत्रों ने कहा कि काउंसिल जब प्रस्तावित संशोधनो

के मसौदों पर सहमत हो जायेगी जब उन्हें कानून मंत्रालय के पास उसकी राय के लिए भेजा जायेगा। इसके बाद ही इसे संसद में पेश किया जायेगा।

एक अप्रैल से लागू हो सकता है अन्तरराज्यीय ई–वे बिल

एक राज्य से दूसरे राज्य में माल भेजने वाले व्यापारियों के लिए जरुरी खबर है। अन्तरराज्यीय माल के परिवहन के लिए एक अप्रैल 2018 से जी0एस0टी0 कानून के तहत ई–वे बिल लागू किया जा सकता है। ऐसा होने पर 50 हजार रुपये से अधिक मूल्य की वस्तुओ की एक राज्य से दूसरे राज्य तक ढुलाई के लिए जी0एस0टी0 नेटवर्क से ई–वे बिल जनरेट करना और माल के साथ भेजना अनिवार्य होगा। हालाकि राज्य के भीतर सामान की ढुलाई के लिए ईवे बिल चरण वृद्ध ढग से लागू किया जायेगा। वैसे रिर्टन भरने की प्रक्रिया को सरल वनाने पर आम राय नही वनने के कारण अभी तक कोई निर्णय नही हुआ है।

विहार के उप मुख्यमंत्री और जी0एस0टी0 काउंसिल के सदस्य सुशील कुमार मोदी की अध्यक्षता वाले एक मंत्रिसमूह ने अगले वित्त वर्श की शुरुआत से ही ई–वे बिल की व्यवस्था लागू करने की सिफारिश की है। मोदी ने शनिवार को मंत्रिसमूह की बैठक के बाद दैनिक जागरण से बात चीत में यह जानकारी दी। हालाकि मंत्रिसमूह की इस सिफारिश पर अन्तिम निर्णय जी0एस0टी0 काउंसिल की 10 मार्च को विडियो कान्फ्रेसिंग के माध्यम से होने वाली बैठक में किया जायेगा। गौरतलब है की जी0एस0टी0 काउंसिल ने कर चोरी रोकने के इरादे से एक फरवरी 2018 से ही अर्न्तराज्यीय वस्तु व्यापार के लिए ई–वे बिल लागू करने का निर्णय लिया था लेकिन पहले ही दिन देश भर में अनायास ई–वे बिल जेनरेट करने के भारी बोझ के चलते जी0एस0टी0 नेटवर्क का आई0टी0 ढॉचा चरमरा गया। और सरकार को इसका क्रियान्वयन टालना पड़ा। इसके बाद ही काउंसिल ने मोदी की अध्यक्षता वाले मंत्री समुह को ई–वे बिल को पुनः लागू करने के लिए उपयुक्त तारीख सुझाने ओर जरुरी आई तंत्र की तैयारियों का जायजा लेने का जिम्मा सौपा था। मोदी ने कहा कि ई–वे बिल पोर्टल की क्षमता में एन0आई0सी0 ने विस्तार किया है। और अब 50और 75 लाख ई–वे बिल प्रतिदिन जेनरेट किये जा सकेगे। बैठक में मौजूद एन0आई0सी0 के अधिकारियों ने बताया कि प्रस्तावित ई–वे बिल का दो राउन्ड का सफल परिक्षण हो चुका है। अभी इसका दो दौरो में और परिक्षण होगा।

उन्होंने कहा कि शुरु में हर दिन 14 लाख अन्तरराज्यीय ई–वे बिल जेनरेट होने का अनुमान है। जी0एस0टी0 के तहत पंजीकृत असेसी की संख्या एक करोड से अधिक हो चुकी है। साथ ही ई–वे बिल पोर्टल पर अब तक 9.5 लाख से अधिक कर दाता और 85 हजार से अधिक ट्रांसर्पोटर पंजीकृत हो चुके है। बिजनेस सोल्यूशन साफटवेयर कम्पनी मार्ग ई0आर0पी0 के मैनेजिग डायरेक्टर (सेल्स एण्ड मार्केटिगं) सुधीर सिह का कहना है कि ई–वे बिल पहले बड़े शहरो या महानगरो में लागू किया जाये और धीरे धीरे पूरे देश में विस्तार हो। इसी तरह इसे पहले पॉच लाख रुपये से बड़ी खेप के लिए लागू किया जाये और बाद में इसका दायरा बढाया जाये।

टल सकता है विवादित प्रावधानो पर अमल

जी0एस0टी0 चोरी रोकने के इरादे से लाए गये ई–वे बिल की शुरुआती विफलता से सबक लेते हुए सरकार सी0जी0एस0टी0 कानून के विवादित प्रावधानों को कुछ और समय तक ठंडे वस्ते में डालकर रख सकती है।

अब विवादित प्रावधानों को अब अमल में लाने पहले हर दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है। सूत्रों ने कहा कि रिवर्स चार्ज मैकेनिज्म, टीडीएस और टीसीएस से संबधित प्रावधानों को अगले कुछ

महीनो के लिए ठंडे बस्ते मे डाला जा रहा है। दरअसल सी0जी0एस0टी0 कानून की धारा 51 और 52 में टी0डी0एस0 और टी0सी0एस0 के सम्बंध में प्रवधान है टी0सी0एस0 सम्बधित धारा के तहत ई कॉमर्स कंपनियों को जी0एस0टी0 काटकर सरकार के खाते में जमा कराने का प्रावधान है। ई कॉमर्स में जुडी कंपनियां इस प्रावधान को लेकर आपत्ति जता चुकी है।

कंपोजीशन स्कीम में सबसे ज्यादा कारोबारी यूपी के

देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में उत्तर प्रदेश का योगदान भले ही 10 फीसदी से कम हो, लेकिन जी0एस0टी0 के लिए देश में जितने भी नये पंजीकरण हुए है उसमें 13 प्रतिशत यूपी से है। खास बात यह है कि जी0एस0टी0 की कंपोजीशन स्कीम से यूपीके सबसे ज्यादा व्यापारी है।

वित्त मंत्रालय के अनुसार 31 जनवरी 2018 तक जी0एस0टी0 में 36.74 लाख नये करदाताओं ने पंजीकरण कराया है इसमें से 4.90 लाख यूपी में है। इस मामले में यूपी देश भर में दूसरे नम्बर पर है। सिर्फ महाराश्ट्र ही यूपी से आगे है जहा पॉच लाख नये असेसी ने जी0एस0टी0 के लिए पंजीकरण करया है यह तथ्य इसलिए चौकाने वाला है क्योकि उत्तर प्रदेश में आम धारण है कि राज्य में औधोगिक एवं व्यापारिक गतिविधिया कम है।

सरकार के रडार पर जी0एस0टी0 रिटर्न नही भरने वाले 3.85 लाख व्यापारी

जी0एस0टी0 रिटर्न दाखिल नही करने वाले 3.85 लाख व्यापारी सरकार के रडार पर है। जी0एस0टी0 काउंसिल में केन्द्र और राज्यों के टैक्स अधकारियों को रिटर्न नही भरने वाले व्यापारियों की सूची सौपी है। टैक्स अधिकारी अब ऐसे व्यापारियों के खिलाफ कार्यवाही की तैयारी कर रहे है।

सूत्रों के मुताविक जूलाई 2017 से देश जी0एस0टी0 लागू होने के बाद अब तक सात महीने के लिए जी0एस0टी0आर0 3वी रिटर्न भरे जा चुके है। इनके विश्लेशण से पता चला है कि 8 मार्च 2018 तक 3.85 लाख व्यापारियों ने जी0एस0टी0आर0 3वी रिटर्न दाखिल नही किया। आलाकि सरकार के लिए संतोश की यह बात है कि रिर्टन दाखिल न करने बाले व्यापारियों की संख्या में कमी आ रही है।

अलग अलग हो सकती है जी0एस0टी0 रिर्टन की तरीख

जी0एस0टी0 रिटर्न प्रक्रिया सरल बनाने की जद्दोजहद कर रही जी0एस0टी0 काउंसिल छोटे और बडें कारोबारियों के लिए रिटर्न दाखिल करने की अन्तिम तारीख अलग अलग करने पर विचार कर रही है। प्रस्तावित व्यवस्था के तहत सालाना 1.5 करोड रुपये तक टर्नओवर वाले कारोबारियों को 20 तारीख तक रिर्टन भरने की अनुमति होगी। वही शून्य टर्नओवर वाले व्यापारियों को 6 महीने मे से सिर्फ 1 बार रिटर्न भरना हो।

फिलहाल जी0एस0टी0 के तहत करोबारियों को हर महीने 20 लाख रुपये तक जी0एस0टी0आर0 3बी रिटर्न दाखिल करना होता है वही कम्पोजीसन स्कीम लेने वाले व्यापारियों को तीन महीने में एक बार अपनी खरीद व बिक्री का व्योरा देना पडता है। हालाकि जुलाई 2017 में जी0एस0टी0 लागू होने के बाद शुरुआमी महीनों में जी0एस0टी0 के आय की सिस्टम में खामियों के चलते व्यापारियों को रिटर्न दाखिल करने में कई तरह की परेशानियों का सामना करना पडा है।

ई वे बिल के तहत माल जब्ती के नियम जारी

केन्द्रीय उत्पाद एवं अप्रत्यक्ष कर बोर्ड (सीबीआईसी) ने ई वे बिल के तहत सामानों की जॉच करने

और उसे जब्त करने करने जैसे मामलों के लिए फील्ड आफिसर को स्थापित प्रक्रिया का पालन करने को कहा है। बोर्ड ने शनिवार को इन प्रक्रियाओं से सम्बन्धित एक विस्तृत विवरण जारी किये है।

जी0एस0टी0एन0 को सरकारी तमगा देने पर विचार

वस्तु एवं सेवा कर जी0एस0टी0 लागू कराने में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली संस्था जी0एस0टी0 नेटवर्क को बहुत जल्द सरकारी कम्पनी का तमगा मिल सकता है। पहली मई को होने वाली बैठक में जी0एस0टी0 काउंसिल इस बात का विचार करेगे कि जी0एस0टी0एन0 में केन्द्र और राज्यों की मौजूदा 49 प्रति0 हिस्सेदारी को बड़ा कर 51 प्रति0 से अधिक किया जाये या इसे शतप्रतिशत सरकार की स्वामित्व वाली कम्पनी बनाया जाये। हालाकि इसके मालिकाना हक में बदलाव पर विचार के वाले में सरकान ने अधिकारित तौर पर कुछ नही कहा है।

काउंसिल अर्न्तराष्ट्रीय हवाई अड्डों पर डयूटी फ्री एरिया में खरीद पर जी0एस0टी0 से छूट का फैसला भी कर सकती है। हाल ही में एडवांस रुलिगं अर्थोटी ने एक फैसलें में कहा था कि आईजीआई टर्मिनल– के अन्तरराष्ट्रीय उड़ान परिसर के डयूटी फ्री एरिया में सामान की विक्री पर जी0एस0टी0 की छूट नही है।

सन्दर्भ सूची

1. दैनिक समाचार पत्र – अमर उजाला, दैनिक जागरण, हिन्दुस्तान टाईम, टाइमस ऑफ इण्डिया।
2. इन्टरनेट सर्च। ONLINE SEARCH
3. जी0एस0टी0 MADE SIMPLE – डा0 अवधेश सिंह
4. G.S.T. DR. SANJIV AGARAL, DR. SANJIV MEHROTRA
5. T.V. NEWS, INTERVIEWS ETC.

''युगपुरुष'' पं. दीनदयाल उपाध्याय जी की प्रेरणात्मक जीवनगाथा

डॉ. मयुरी गुप्ता *

हमारे देश के गौरवशाली व्यक्तियों में पं. दीनदयाल उपाध्याय जी का नाम बड़ी ही श्रद्धा से लिया जाता है। वे सहजता, सरलता, सेवा, त्याग जैसे मानवीय गुणों से परिपूर्ण व्यक्तित्व के धनी थे। इन्हें अजातशत्रु भी कहा जाता था। पं. दीनदयाल जी ने अपने चिन्तन और इच्छा शक्ति के द्वारा राष्ट्र जीवन को एक नई दिशा प्रदान की। पं. दीन दयाल उपाध्याय का जन्म एक साधारण ब्राह्मण परिवार में मथुरा से 22 कि.मी. की दूरी पर स्थित नगला चंद्रभान (फरह) में अश्विन कृष्णा त्रयोदशी विक्रम सम्वत् 1973 दिन सोमवार तद्नुसार 25 सिसम्बर 1916 ई. को हुआ था। इनके पिता भगवती प्रसाद उ0प्र0 के जलेसर रोड स्टेशन के स्टेशन मास्टर थे। इनकी माता रामप्यारी इन्हें प्यार से 'दीना' कहकर पुकारती थी। बालक दीना की जन्मपत्री देखकर ज्योतिषाचार्य ने भविष्यवाणी की थी कि 'यह बालक एक महान विद्वान बनेगा, यह निःस्वार्थ भाव से दीन दुखियों की सेवा करेगा तथा जननायक कहलाएं'। इस विषय में डॉ. संत शरण शर्मा की निम्नलिखित काव्य पंक्तियां पठनीय हैः–

'संत भगवती प्रसाद घर, सुपुत्र दीनदयाल।
जन्मा था शुभलक्षण, सच्चा दीनदयाल।।
उपाध्याय कुलभूषण, रामप्यारी सम्भूत।
दिव्य गुणों की मूर्ति था, दीनदयाल सपूत।।
जन्मपत्रिका गुणभरी, कहें ज्योतिषविद्वान।
परसेवा संलग्न यह, होगा संत महान।।

दीना के जन्म के दो वर्षों बाद ही इनकी माता ने द्वितीय पुत्र को जन्म दिया जिसका शिवदयाल रखा। दुर्भाग्यवश पिता की मृत्यु के उपरान्त इनकी माता इन्हें इनके नाना श्री चुन्नीलाल शुक्ल जो राजस्थान के धन किया नाम स्थान पर रेलवे में स्टेशन मास्टर थे के यहां ले आयी। जब ये छः वर्ष के थे तभी इनकी माता की क्षयरोग से मृत्यु हो गयी। माता के असमय निधन से इनके मन मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ा अतः इनके नाना जी ने नौकरी छोड़ दी और बच्चों को लेकर 'गुड को मडई' फतेहपुर सीकरी, आगरा, उत्तर प्रदेश आ गये।

'दीनदयाल, शिवदयाल को, दिया जन्म था संत।
स्वास्थ्य बिगड़ माता गया, हो गई प्राप्त अनंत।।

इनके नाना ने इन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिए मामा राधारमण के पास गंगापुर भेज दिया। 1931 में मामा की मृत्यु के बाद इन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिए राजगढ़ (अलवर) आना पड़ा। आगे की शिक्षा के लिए इन्होंने राजस्थान के सीकर जिले के 'कल्याण' हाई स्कूल में प्रवेश लिया और 1935 में 10वीं कक्षा में राजस्थान बोर्ड में सर्वप्रथम आये। इनकी इस प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें बोर्ड तथा विद्यालय ने पुरस्कार स्वरूप दो स्वर्ण पदक प्रदान किए। इण्टर की परीक्षा इन्होंने पिलानी के बिड़ला कॉलेज से की तथा स्नातक की पढ़ाई के लिए कानपुर से सनातन धर्म कॉलेज में प्रवेश लिया तथा एम.ए. (अंग्रेजी) करने के लिए आगरा के सेंट जोन्स कॉलेज में प्रवेश लिया परन्तु अपनी ममेरी बहन का स्वास्थ्य खराब होने के

* जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

कारण मृत्यु होने से इन्होंने एम.ए. द्वितीय वर्ष की परीक्षा नहीं दी। आगे इन्होंने प्रयाग के गवर्नमेंट ट्रेनिंग कॉलेज से एल.टी. की परीक्षा उत्तीर्ण की।[2] पं. दीनदयाल सन् 1937 में कानपुर में बी.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के समय ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं बाबा साहब आप्टे, नाना जी देशमुख, वीर सावरकर आदि के सम्पर्क में आये तथा 1942 में संघ प्रचारक के रूप में शेष जीवन राष्ट्र को समर्पित कर दिया। वे लखीमपुर जिले के जिला प्रचारक बने तथा 1947 में उन्हें उ0प्र0 का सह प्रचारक बना दिया गया।[3] वे एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे। उन्होंने 1945 में 'राष्ट्रधर्म' मासिक तथा 'पाचजन्य' साप्ताहिक और 'स्वेदश' नामक दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन किया। इन्होंने 1946 तथा 1947 में 'सम्राट चन्द्रगुप्त' तथा 'जगतगुरु शंकराचार्य' नामक दो पुस्तकें लिखी। इनके द्वारा लिखित पुस्तकों में पॉलिटिकल डायरी, जनसंघ सिद्धान्त और नीति, लोकमान्य तिलक की राजनीति आदि प्रमुख है।[4] इन्होंने बड़ी तन्मयता और कुशलता से सम्पादन का कार्य किया और भावी लेखकों का मार्गदर्शन करते हुये आचार संहिता के अन्तर्गत स्वच्छ एवं निर्भीक पत्रकारिता को प्रोत्साहन दिया।

'कथनी करनी एक सी
पाया हृदय विशाल
रहे समर्पित राष्ट्रहित
पण्डित दीनदयाल।

प्रत्येक विषय में उनको ज्ञान था। वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे विषयों को आसानी से कम पढ़े लिखे लोगों को समझा देते थे। ऐसा लगता था कि हर विषय के बारे में उनका ज्ञान जन्मजात था। उन्होंने कुछ विशिष्ट लेख लिखे–

1. भारतीय राष्ट्रधारा का पुनः प्रवाह
2. भगवान कृष्ण
3. राष्ट्रजीवन की समस्यायं
4. भारतीय राजनीति की मौलिक भूल
5. भारतीय संविधान पर दृष्टि
6. जीवन का ध्येय तथा आत्मानुभूति

वे एक चिन्तनशील विचारक भी थे।[5] कृषि क्षेत्र में उनका मानना था कि किसानों की जोत नहीं घटानी चाहिए। किसान की आर्थिक स्थिति मजबूत होनी चाहिए तथा कृषि के लिए उपयोगी मशीनों का उत्पादन हमारी प्रथम प्राथमिकता होनी चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में उनका मानना था की कोई भी देशवासी भूखा नहीं रहना चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए रोजगार की व्यवस्था होनी चाहिए। 'वे अपरिमात्रिक उद्योग नीति के पक्षधर थे अर्थात् स्वावलम्बन से अधिक उत्पादन। वे शिक्षा को व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाला मानते थे। वे शिक्षा को कृषि ऋण मानते थे और ऋण को चुकाना प्रत्येक मानव का कर्तव्य मानते थे। वे व्यक्ति के लिए तीन शिक्षक प्रथम माता, द्वितीय आचार्य, तृतीय स्वाध्याय मानते थे।[6] दीनदयाल जी ने अपने नेतृत्व क्षमता के बल पर राजनीति में प्रवेश किया।

1951 में डॉ. श्यामप्रसाद मुखर्जी की अगुवाई में जनसंघ नामक राजनीतिक दल के गठन पर विचार हुआ। 21 सितम्बर, 1951 को पं. जी ने लखनऊ में उत्तर प्रदेश का प्रादेशिक सम्मेलन बुलाया तथा प्रादेशिक जनसंघ की स्थापना की। 21 अक्टूबर 1951 को इनके तथा डा. श्याम प्रसाद जी के नेतृत्व में जनसंघ, अखिल भारतीय जनसंघ के रूप में उभरा। 1952 में जनसंघ का प्रथम अधिवेशन कानपुर में हुआ।

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने दीनदयाल जी के विषय में कहा था कि 'मैं जैसा चाहता था, वैसा ही साथी मुझे मिल गया और मुझे ऐसे दो दीनदयाल और दे दीजिए, मैं सारे देश का नक्शा बदल दूंगा।[7] इस अधिवेशन में कश्मीर समस्या का स्थायी हल खोजने तक सरकार पर दवाब बनाने के लिए सत्याग्रह की योजना बनाई गई। तथा नारे लगाये गये–

एक देश में दो विधान – नहीं चलेंगें, नहीं चलेंगे।
एक देश में दो प्रधान – नहीं चलेंगें, नहीं चलेंगे।
एक देश में दो निशान – नहीं चलेंगे, नहीं चलेंगे।

कश्मीर आन्दोलन का दायित्व उपाध्याय जी को सौंपा गया। इसी समय डॉ. मुखर्जी की हत्या के फलस्वरूप जनसंघ का समस्त दायित्व दीनदयाल जी पर आ गया। इन्होंने 15 वर्षों तक महामंत्री के रूप में कार्य किया। जनमानस को विश्वास दिलाने के लिए 16 अगस्त 1965 को इन्होंने अपने विराट रूप का दर्शन कराया, जब जनसंघ के 5 लाख जवानों की पंक्ति केसरिया ध्वज लिए 'कच्छ समझोता तोड़ दो अथवा गद्दी छोड़ दो' के नारे लगाते हुए संसद भवन पहुंचे। 1967 में दीनदयाल जी जनसंघ के अध्यक्ष बने।[8] पं. दीनदयाल पर दैशिक शास्त्र का विशेष प्रभाव पड़ा। उनका मानना था कि मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है इन्हीं एक एकात्म स्वरूप व्यक्ति हैं।[9] 11 फरवरी 1968 को पं. दीनदयाल उपाध्याय जी भारतीय जनसंघ की बिहार कार्यकारिणी की पटना स्थित बैठक में उपस्थित होने के लिए लखनऊ स्टेशन से रवाना हुए परन्तु मुगल सराह स्टेशन से दूर इनका शव संदिग्ध हालत में मिला। 12 फरवरी 1968 को इनका दिव्य शरीर सदा के लिए पंचतत्व में विलीन हो गया। इस शोकमय क्षणों में अनेकानेक नेता, सामाजिक कार्यकर्ता एवं पत्रकारों ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपनी हृदय वेदना को इस प्रकार व्यक्त किया।

1. डॉ. जाकिर हुसैन राष्टपति भारत गणतंत्र– 'मुझे श्री दीनदयाल जी की मृत्यु की खबर सुनकर गहरा आधात लगा'।
2. श्री वी.वी. गिरी उपराष्ट्रपति भारत गणतंत्र– 'श्री उपाध्याय भारत मां के महानपुत्र थे। उनके निधन से एक बहुत बड़ा राष्ट्रवादी कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति भारत ने खो दिया।'
3. श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री भारत सरकार– 'श्री उपाध्याय देश के राजनीति जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे'।

पं. दीनदयाल जी की राजनीतिक विरासत के उत्तराधिकारी तथा जनसंघ के अध्यक्ष माननीय अटल बिहारी वाजवेयी द्वारा रूवरूप व्यक्त विचार भी सुसंगत है। 'हमारा मित्र पथ प्रदर्शक और नेता चला गया। ऐसा लगता है जैसे दीपक बुझ गया हो, हमें जीवन दीप जलाकर अंधकार से लड़ना होगा। सूरज छिप गया हमें तारों की छांव में अपना भाग ढूढ़ना होगा।'[11] पं. दीनदयाल उपाध्याय की हत्या की गुत्थी सुलझाने के लिए सरकार ने 'चन्द्रचूड़ आयोग' का गठन किया। परन्तु चन्द्रचूड़ आयोग की जांच से भी यह अज्ञात और रहस्य ही बना रहा कि आखिर पं. दीनदयाल के हत्यारे कौन थे और उनकी हत्या क्यों की गई है। यह गुत्थी अभी तक वैसी बनी हुई है। यह प्रश्न सभी के मन में है कि क्या कभी उनकी हत्या का रहस्य खुल पाएगा। अंत में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन देशहित को सौंप दिया और यह देश उनके त्याग और बलिदान को सदैव याद रखेगा।[12]

सन्दर्भ

1. कौशिक, डॉ. कमल, एकात्ममानव दर्शन के प्रणेता, मथुरा, 2016, पृष्ठ 2,3
2. शर्मा, हरीश दत्त, राष्ट्रीय जीवनी माला.... पं. दीनदयाल उपाध्याय, दिल्ली, 2017, पृष्ठ 12, 13
3. किशोर, कमल, पं. दीनदयाल उपाध्याय – व्यक्ति दर्शन, दीनदयाल शोध संस्थान रानी झांसी, नई दिल्ली–58, पृष्ठ 153
4. कौशिक, डॉ. कमल, एकात्ममानव दर्शन के प्रणेता, मथुरा, 2016, पृष्ठ 5
5. मिश्रा, डॉ. विनोद, पं. दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद दर्शन, दिल्ली, 2016, पृष्ठ 76
6. शर्मा, डॉ. महेश चन्द्र, पत्रिका पं. दीनदयाल उपाध्याय के पुरोधा, सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, लखनऊ, सितम्बर 1991 पृष्ठ 13
7. शर्मा, हरीश दत्त, राष्ट्रीय जीवनी माला... पं. दीनदयाल उपाध्याय, दिल्ली, 2017, पृष्ठ 36, 37
8. कौशिक, डॉ. कमल, पं. दीनदयाल उपाध्याय, दिल्ली, 2016, पृष्ठ 11
9. भाउजव, शिवदेवरस, एकात्मता के पुजारी, पं. दीनदयाल उपाध्याय लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ 3
10. शर्मा, हरीश दत्त, राष्ट्रीय जीवनीमाला, पं. दीनदयाल उपाध्याय, दिल्ली, 2017, पृष्ठ 68, 69
11. उत्तर प्रदेश संदेश, पं. दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक – सितम्बर 1991, पृष्ठ 9
12. शर्मा, हरीश दत्त, राष्ट्रीय जीवन माला.... पं. दीनदयाल उपाध्याय, दिल्ली, 2017, पृष्ठ 84

ग्वालियर जिले में दलित लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि

आदर्श कुस्तवार *

भारतीय समाज में एक ऐसे संविधान की कल्पना की गयी है जो कि सामाजिक, आर्थिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता पर आधारित है और राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह सभी के कल्याण के लिये उचित प्रयास करें। दलितों को देश और समाज की मुख्यधारा से जोड़ना देश की एकता और अखण्डता के लिये अत्यंत आवश्यक है। यह उसी दशा में संभव है जब दलितों या दलित वर्गों में पाई जाने वाली आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को शिक्षा के माध्यम से दूर किया जावे। तभी दलित समाज स्वाभिमानी और सम्मानित नागरिक बनने में समर्थ हो सकेगा। दलित जाति के सर्वेक्षण में यह पता चलता है कि प्रमुख रूप से आरक्षित पदों पर वे ही दलित चुनकर आते हैं जिनके ऊपर ग्रामीण क्षेत्र के प्रभावशाली व्यक्तियों का संरक्षण होता है।[1] पंचायती राज संस्थाओं की औपचारिक बैठकों में भी ग्रामीण समाज के यह प्रभावशाली व्यक्ति दलित जाति के प्रतिनिधियों द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इस प्रकार पंचायती राज के माध्यम से दलित जाति का नेतृत्व नहीं उभरेगा, बलिक प्रभावशाली व्यक्तियों के स्थापित नेतृत्व का ही पारिवारिक विस्तार होगा तो पंचायतें प्रभावशाली व्यक्तियों की पारिवारिक संस्थाऐं बनकर रह जायेगी।[2] ऐसी स्थिति में सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं बल्कि उसके केन्द्रीयकरण का एक और माध्यम निकल आयेगा। ऐसी पंचायतें स्थानीय स्तर पर व्यक्तियों की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकेगी और पंचायती राज संस्थाओं की सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लग सकता है।[1] जिला एवं जनपद तथा ग्राम स्तरीय पंचायतों में बहुत बड़ी संख्या में दलित जाति वर्ग के प्रतिनिधि चुने गये हैं, जिन्हें अपने क्षेत्रों में विकास योजनाएं बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने का उत्तर दायित्व सौंपा गया है।

ग्वालियर भारतीय गणराज्य के हृदय प्रदेश मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित है, जिसकी एक लम्बी ऐतिहासिक पृश्ठभूमि है तथा भौगोलिक रूप से प्राकृतिक संपदाओं से युक्त क्षेत्र है।

ग्वालियर जिले में जातिवाद की समस्या एक घोर समस्या है। जो कि ग्रामीण है। ग्वालियर जिले में सामान्य तथा पिछड़े वर्ग की कुछ जातियों के कारण दलित जाति के लोगों को बहुत हद तक अस्पृश्यता के कारण प्रभावित रहते हैं। सामान्य वर्ग जैसे– ठाकुर, ब्राह्मण, वैश्य आदि। दलित जाति के अधिकांश व्यक्ति सामान्य जाति के लोगों के साथ बराबर नहीं बैठ सकते हैं और न ही वे साथ सह भोजन बैठकर कर सकते हैं।[3] कई गाँवों में तो एक हैडपम्प से अथवा कुऐं से एक साथ पानी तक नहीं भरने देते हैं। यदि भरते भी हैं तो पहले सामान्य अथवा पिछड़ा वर्ग का व्यक्ति पानी भर लेगा उसके पश्चात दलित जाति के लोगों को पानी भरने दिया जाता है।

दलित जाति के व्यक्तियों के बर्तनों तक को कुंए, नल तथा हैडपम्प से फैंक दिया जाता है। दलित जाति के लोगों को आज भी ऊँची जाति के लोगों की झूठन तक को उठाना पड़ता है, तथा लोग सामान्य या पिछड़ी वर्ग की जाति के सामने ऊँची आवाज में बात तक नहीं कर सकते हैं तथा इनके घरों की गंदगी को भी साफ करते हैं। इनके खेतों में काम करते रहते हैं कभी–कभी तो ये सामान्य वर्ग के कई जाति के लोग दलित जाति के लोगों की मार पीट कर देते हैं। घरों अथवा फसल एवं खेतों पर जबरदस्ती अपना अधिकार कर लेते हैं। अनेक गाँवों मे इनकी फसल तथा घरों में आग तक लगा दी जाती है। दलित जाति

* शोध छात्र, (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

के कर्मचारियों तक को एक सामान्य जाति का व्यक्ति मारपीट अथवा अपमान कर देता है। अनेक गाँवों में आज भी लोग गुलामी की जिन्दगी जी रहे हैं।

दलित जाति के लोगों को धार्मिक कर्मकाण्ड तक नहीं करने दिया जाता है और ना ही मन्दिरों में पूजा पाठ करने दिया जाता है। आज भले ही दलित लोग ग्रामों में रह रहे हों पर उन्हें उच्च वर्ग के लोगों की हुकुमत माननी ही पड़ती है।[4] इस कारण से लोग गाँवों से निकल कर शहरों में बसने लगे हैं। जिससे शहरीकरण की भी समस्या बढ़ने लगी है। आज भले ही आरक्षण के कारण दलित जाति का व्यक्ति जनप्रतिनिधि क्यों न बन जाये लेकिन वह आजादी के 65 वर्ष पूर्ण होने पर भी सामान्य एवं पिछड़े जाति के लोगों की हाथ की कठपुतली है। ऐसी स्थिति में हम कैसे सफल ग्रामीण विकास की कल्पना कर सकते हैं। हमें यदि सफल ग्रामीण विकास तथा दलित जाति के लोगों को शासन कीयोजनाओं का सही तरीके से लाभ देना है तो समाज एवं अपने परिवेश से जातिवादकी समस्या को दूर करना ही होगा। तभी हम सफल पंचायती राज तथा सफल लोकतंत्र की कल्पना कर सकते हैं।

ग्वालियर क्षेत्र में दलित जाति के अधिकांश लोग गरीब हैं इस गरीबी को दूर करने के लिये शासन द्वारा कई योजनाऐं चलाई जाती हैं लेकिन कोई बड़ी योजना का लाभ लेना हो तो वे पूँजी के अभाव में या धन की कमी के अभाव में शासन की योजनाओं का लाभ नहीं ले पाते हैं। आज यदि कोई ग्रामीण किसी योजना के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहता है तो अधिकारी एवं कर्मचारियों द्वारा उनको उचित मार्ग दर्शन नहीं दिया जाता है यदि कोई ग्रामीण या लाभ लेने वाला कोई व्यक्ति किसी अधिकारी के पास किसी योजना के लाभ के बारे में पूछता है तो वह अपने अधिनस्थ किसी कर्मचारी अथवा बाबू का नाम लेकर उस व्यक्ति को वहाँ से चले जाने के लिये कह देता है इस प्रकार से कभी–कभी उनके कर्मचारी एवं बाबू भी समय का अभाव बताते हुए कहीं आज कहीं कल करके ग्रामीणजनों को परेशान करते रहते हैं। इस कारण से भी ग्रामीण विकास कार्यक्रम पूर्ण नहीं हो पाता है। खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ पर दलित जाति के व्यक्ति अधिकांश निवास करते हैं।

ग्वालियर में जाति एवं वर्गभेद के कारण दलित समाज लगातार पिछड़ता जा रहा है। जीवन के हर क्षेत्र में वह समाज में पीछे चलते जा रहे है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वर्ग भेद मिटाकर पूरे समाज की एकीकृत व उन्नति की दृष्टि से भारत शासन ने इस ओर विशेष प्रयास किये। पिछड़ेपन का मुख्य कारण शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ा होना तथा आर्थिक रुप से कमजोर होना पहचाना गया और इसको दूर करने का प्रयास रुप इन्हें शिक्षा तथा नौकरियों में विशेष आरक्षण का प्रावधान भारत के संविधान मे रखा गया, जो आज तक चला आ रहा है।

ग्वालियर में साधारणतया दलित समाज तथा पिछड़ी जाति शब्द का प्रयोग समान अर्थों में ही कर लिया जाता है। वास्तविकता यह है कि कानूनी तथा सामाजिक दोनों आधार पर दलित समाज एवं पिछड़ी जाति की अवधारणा एक–दूसरे से भिन्न है। दलित समाज का तात्पर्य साधारणतया उन सभी जातियों से है जिन्हें परम्परागत रूप से 'अस्पृश्य जातियां' कहा जाता रहा था। ब्रिटिश शासन में इन अस्पृश्य अथवा अछूत जातियों को बहुत समय तक दलित वर्ग के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा और इसी नाम से भारत में एक दलित वर्ग संघ की स्थापना हुई।

स्वतंत्रता आन्दोलन में इस नाम पर बहुत से व्यक्तियों को आपत्ति होने के कारण सन 1931 में आसाम के जनगणना आयुक्त ने इन्हें बाहरी जाति के नाम से सम्बोधित करना आरंभ किया।[5]

दलित समाज भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो कई वर्षों से उपेक्षित रहा। जो विद्वान परम्परागत आधार पर भारतीय समाज की व्याख्या करते हैं उनका विचार है कि दलित समाज का सम्बन्ध हिन्दू धर्म के उस पवित्रतावादी स्वरूप से है, जिसमें अपवित्र व्यवसाय करने वाले लोगों को अनेक प्रकार की सुविधाओं से वांछित कर दिया गया था। यदि सामाजिक और व्यावसायिक आधार पर देखा जाए तो इस वर्ग का सम्बन्ध उस विभेद कारी नीति से रहा है जिसके अन्तर्गत कुछ वर्गों के ऊपर अन्य वर्गों के अधिकारों को योज नाबद्ध रूप से मान्यता दी जाती रही है। भारत में सामाजिक असमानता का यह आरंभिक रूप सवर्ण लोगों के व्यापक अधिकारों तथा अस्पृश्य जातियों के शोषण के रूप में विद्यमान था।

डॉ. हटटन ने भी अपनी पुस्तक कास्ट इन इण्डिया में उन जातियों को बाहरी जातियों के नाम से सम्बोधित किया, जिस पर मनुस्मृति के अनुसार – अनेक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक नियोग्यतायें लगी हुई थीं। इन जातियों के महान नेता डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने गोल मेल सम्मेलन में इसी शब्द का समर्थन किया और यह सुझाव रखा कि अस्पृश्य जातियों को हिन्दू समाज से बाहर मानकर उन्हें पृथक रूप से मतदान का अधिकार दिया जाये। यही वह समय था जब गांधी जी ने हिन्दू वर्ण–व्यवस्था से सम्बन्धित रूढ़ियों की आलोचना करते हुए यह घोषित किया कि ''भारत में स्वतंत्र ता प्राप्त करने के लिए में अछूत कहे जाने वाले लोगों के वास्तविक हितों को किसी भी तरह नहीं बेच सकता।''[6] इन तथाकथित अस्पृश्य जातियों को हिन्दू समाज का अंग बनाये रखने के लिए महात्मा गांधी ने आमरण अनशन करना आरंभ कर दिया। अन्त में सभी दलों ने एकमत होकर अस्पृश्य जातियों को हिन्दू समाज का अभिन्न अंग मान लिया।

ग्वालियर में दलित लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि परमपरागत मूल्यों पर आधारित है जिसके अन्तर्गत सामाजिक असन्तुलन और दलितों के प्रति हेय भावना कहीं–कहीं पर विकराल रूप में दिखलाई पड़ती है। यही कारण है कि दलित समाज भारतीय हिन्दू समाज की लोक संस्कृति का अभिन्न अंग होते हुए भी स्वयं को असंलग्न महसूस करता है।

सन्दर्भ

1. के. एम. पणिक्कर, हिन्दु समाज निर्णय के द्वार पर, पृ. 269–280
2. नर्मदेश्वर प्रसार, जाति व्यवस्था पृष्ठ 22 पूर्व उदृत
3. मनुस्मृति, 8/114, 1141, दुबे,एस0सी0, इंडियन विलेज, लंदन, रूटलेज एंड केगन पॉल लिमिटेड, थर्ड इंप्रेशन, 1959 73 अवस्थी आभा, सोशल एंड कल्चरल डाइवर्सिटी : डी0 पी0 मुखर्जी इन मेमोरियम, रावत पब्लिकेशन, 1997
4. बी0आर0अम्बेडकर, संपूर्ण वांगमय, खण्ड 1, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 1993, पृ0–70 75 श्यामसुन्दर दुबे, लोकः परम्परा, पहचान एवं प्रवाह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पेज–48, 76 वही 77
5. वसंत निरगुणे, लोक 1 4संपा01 2 पीयूष दईया, लोकसंस्कृति के प्रतीक, भारतीय लोक कला मण्डल, 2002
6. डॉ. के.एन. शर्मा, भारतीय समाज और संस्कृति

तिलाड़ी गोली काण्ड

डॉ0 नम्रता श्रीवास्तव*

सारांश

सम्पूर्ण देश में जिस समय गाँधी जी के नेतृत्व में जनता में स्वतत्रता की तीव्र लहर फैली हुई थी। उन्हीं दिनों टिहरी राज्य मे ग्रामीण जनता वन विभाग के कठोर नियन्त्रण से दुःखी होकर वनों के उपयोग के अपने परम्परागत अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए तड़प रही थी । सम्पूर्ण देश की जनता इस समय जागृत हो चुकी थी। और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये तथा संघर्श करने के लिये कटिबद्ध थी ।

आंग्ल–नेपाल युद्ध के पश्चात् सन् 1815 ई0 मे टिहरी गढ़वाल रियासत की स्थापना हुई। जो 134 वर्षो के लम्बे शासन के पश्चात् 60 वें पंवार वंशी राजा मानवेन्द्रशाह के समय में 1949 ई0 मे उत्तर प्रदेश में विलीन कर दी गई।

आंग्ल – नेपाल युद्ध मे विजय के बाद महाराजा सुदर्शन शाह को टिहरी का कार्यभार सौंपा गया। तो रवांई का क्षेत्र उन्हें प्रदान नहीं किया गया। कुछ अवधि पश्चात् राजा की प्रशासकीय योग्यता को देखकर सन् 1824 ई0 में रवांई का क्षेत्र उनके सुपुर्द्ध कर दिया।[1]

इस तरह महाराजा सुदर्शनशाह के राज्यकाल मे रवांई वन प्रशासन ढंग से चलता रहा परन्तु भवानी शाह का शासनकाल प्रशासनिक दृष्टि से कमजोर निकला। इस दौरान राज्य कर्मचारी ही नही रवांई के बड़े–बड़े जमींदार एंव थोकदार भी गड़बड़ियाँ करने लगे। राजा का विरोध करना, जनता को बहकाना ढंडक करना व करवाना उनका काम हो गया। आगे चलकर महाराजा प्रतापशाह के कार्यकाल मे शान्ति व्यवस्था तो रही परन्तु फिर भी राज्य कर्मचारियों द्वारा जन उत्पीडन की कुछ छुट–पुट घटनाएं होती रही। साथ ही राजा कीर्तिशाह के राज्यकाल में रवांई क्षेत्र मे कोई विशेष घटना नही घटी। परन्तु महाराजा नरेन्द्रशाह के शासन काल मे रवांई परगने मे सामन्ती क्रूरता की भंयकर घटना घटी जो जन संघर्श की महानतम घटना मानी जाती है।

क्योंकि इसी जनसंघर्ष के द्वारा टिहरी राज्य के युवकों के दिलों में राजशाही की क्रूरता, जुल्म व ज्यादती के प्रति विद्रोह की भावना अंकुरित हुई।[2]

महाराजा नरेन्द्रशाह के शासन काल में सन् 1930 ई0 में वन अधिकारों के लिये भीषण गोली काण्ड हुआ जिसने टिहरी की जनता को स्तब्ध किया।[3] टिहरी राज्य द्वारा की गई सन् 1927–28–ई0 की वन व्यवस्था के प्रति जनता में जनाक्रोश पैदा हुआ।

इसके विरोध में भारी आवाजें उठी। क्योंकि राज्य में जो वन व्यवस्था की गई थी उसमें वनों की सीमा निर्धारित करते समय ग्रामीणों के हितों की जान बूझकर अवहेलना की गई। इसमें वनों के निकट के ग्रामीणों में भारी असंतोष फैला ।[4]

परगना रवांई में वनों की जो सीमा निर्धारित की गई उसमें ग्रामीणों के आने जाने के मार्ग खलिहान तथा पशुओं को बांधने के स्थान भी वन की सीमा में चले गये।[5] जिससे ग्रामीण जनता के चरान,

* सहा. अध्यापिका (समान्य) श्री गुरु नानक पब्लिक बालक इंटर कालेज, देहरादून

चुगान व घास, लकड़ी काटने के अधिकार बन्द हो गये। यदि कभी राज्य की ओर से किसी व्यक्ति या ग्रामीण को राज्य के वनों से किसी वस्तु को निःशुल्क प्राप्त करने की छुट दे दी जाती थी तो इसे महाराजा की विशेष कृपा समझा जाता था। जिसे महाराजा स्वच्छोनुसार जब चाहे रद्द् कर सकता था।[6] इस प्रकार वनों पर निर्भर ग्रामीणों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये गए। तो ग्रामीणों ने सरकारी कर्मचारियों को इस प्रकार की कार्यवाहियाँ न करने को कहा तो कर्मचारियों ने उत्तर दिया–''पशुओं के लिए सरकार नुकसान नहीं उठायेगी।'' जब जनता कर्मचारियों से पूँछती थी कि वन बन्द हो जाने से हमारे पशु कहाँ चरेगें''? तब कर्मचारी उत्तर देते थे कि पशुओं को ''ढ़गार में फेंक दो'' अर्थात् पशुओं को पहाड़ से फेंक दो या खड्ड में डाल दो।[7]

यह उत्तर विद्रोह की चिंगारी सुलगाने के लिये पर्याप्त था। परिणामस्वरूप सन् 1930 ई0 मे भंयकर गोली काण्ड हुआ, जिसमें अनेक लोगों को अपनी जान गॅवानी पडी। यह महाराजा नरेन्द्रशाह के शासन काल की सबसे बडी घटना थी। सन् 1930 के पश्चात् राज्य में वन व्यवस्था के पति इतना बड़ा आन्दोलन नहीं हुआ।[8]

वनो पर निर्भर ग्रामीणों पर इतना कठोर प्रतिबन्ध लगा देने से स्वतन्त्रता प्रिय एंव उग्रवृत्ति वाले ग्रामीणों का रूधिर खौल उठा, जिसके परिणामस्वरूप आन्दोलन भड़क उठा। इन दिनों सम्पूर्ण भारत में गाँधी जी के आह्वान पर जनता ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाए गए नियमों एंव कानूनों को अदम्य उत्साह के साथ तोड़ रही थी। फलस्वरूप रवांई की जनता ने संगठित होना शुरू कर दिया और क्षेत्र के साहसी व्यक्तियों ने वनों के अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन शुरू कर दिया।[9]

रवांई जन संघर्श के दौरान दो हिंसक घटनाएं घटी। पहली रॉडी घाटी गोली काण्ड तथा दूसरा तिलाड़ी घाटी गोली काण्ड।

(क) राड़ी घाटी गोली काण्ड (20 मई सन् 1930ई0)

(ख) तिलाडी गोली काण्ड (30 मई सन् 1930 ई0)[10]

तिलाडी गोली काण्ड 30 मई 1930 ई0 – रॉडी काण्ड से ग्रामीणों को विश्वास हो गया था कि दरवार मे उनके लिये गोली डंडा और कैद के अलावा और कोई न्याय नही है। जिसके फलस्परूप 30 मई सन् 1930 ई0 को तिलाडी गोली काण्ड हुआ। उस समय टिहरी के दीवान चक्रधर जुयाल थे। उन्होंने रवांई के निवासियों को ऐसा पाठ पढाने की सोची, जिसे वह कभी न भूल सकें। उन दिनों राजा नरेन्द्रशाह यूरोप की यात्रा पर थे इसलिये दीवान ने प्रान्त के गवर्नर से आन्दोलनकारियों का दमन करने के लिये यदि आवश्यकता पडी तो शस्त्रों का प्रयोग करने की अनुमति प्राप्त कर ली थी।[11] 29 मई 1930 को उसने विशाल फौज को लेकर रवांई के विद्रोही किसानों को कुचलने के लिये कूच कर दिया। रवांई के ग्रामीणों ने फौज का मार्ग अवरूद्ध करने के लिए रास्तो में वृक्षों को काटकर सड़क मे गिराकर बाधा उत्पन्न करने की योजना बनाई। परन्तु इससे कोई विशेश बाधा उत्पन्न नहीं हुई।[12]

तिलाडी के मैदान में चांदाडोखरी नामक स्थान पर, जहाँ आजादपंचायत की बैठक चल रही थी। जिसमें सेना के आगमन तथा समझौते की शर्तों पर विचार विमर्श हो रहा था, कि सेना ने मैदान को तीनों ओर से घेर लिया तथा चौथी ओर तो यमुना बह रही थी। अनहोनी की आंशका तो सभी को थी परन्तु इतने क्रूर काण्ड की अपेक्षा किसी को नहीं थी। दीवान चक्रधर जुयान ने सीटी बजाई और चारो ओर से फौज ने गोलियों की वर्शा शुरू कर दी। निहत्थे ग्रामीण अपने प्राणों की रक्षा के लिये कुछ धरती पर लेट गये, कुछ

पेड़ों पर चढ़ गये तो कुछ प्राण बचाने की खातिर यमुना में कूद पड़े[13] लेकिन यमुना की तेज धार मे वह बह गये।[14]

फलतः परिणाम वही हुआ जो कि इस खूनी इतिहास के काले पृश्ठों की भवितव्यता थी। सेना ने आगे बढ़कर बचे ग्रामीणों को घेर लिया और गिरफ्तार करने आगे गाँव की ओर बढ़े। खूब धड़–पकड़ हुई सेनिको ने घरो में घुस कर बागियों को पकडने की आड में लूट–पाट की तथा महिलाओं के साथ दुराचार किया।[15] सेना द्वारा शवों पर पत्थर बांध कर उन्हे यमुना में डुबा दिया गया।[16]घायल व्यक्ति जो पीड़ा से कराह रहे थे, दीवान की आज्ञानुसार उन्हे ऐसी औशधि पिलाने का आदेश दिया गया, जिससे वह हमेशा के लिये सो जायें। रियायती फौज के जवानों ने तलाशी के नाम पर घरों में घुस कर लूट पाट की और जिसके हाथ जो चीजे लगी उसे आपस में बांट लिया।[17]

गिरफ्तार ग्रामीणों को टिहरी जेल मे बंद कर दिया गया। इस क्रूर नृशंस हत्याकाण्ड मे दीवान चक्रधर जुयाल ने अविस्मरणीय अध्याय को जोड़ा तिलाडी मैदान में हुये गोली काण्ड की तुलना जलियॉवाला हत्याकाण्ड से होने लगी। इससे जनता आंतकित तो हुई लेकिन मन मे उत्पन्न स्वतन्त्रा प्राप्ति की भावना निरन्तर बढती चली गई। 7 जुलाई सन् 1930 को महाराजा नरेन्द्रशाह जब यूरोप से वापिस लौटे तो राजा ने जनता के आरोपी चक्रधर जुयाल को दण्ड न देकर उसके कार्य की प्रशंसा की। और पकडे गये ग्रामीणो के खिलाफ आठ महीने तक मुकदमा चलवाया सभी अभियुक्तों को एक वर्ष से 20 वर्ष तक के कारावास की सजा सुनाई गई। उनमें से 15 विद्रोही तो जेल में ही सजा काटते हुये स्वर्ग सिधार गये। इन शवो को पुलिस ने गंगाजी मे बहा दिया।[19]

उपसंहार

इस प्रकार तिलाडी काण्ड ने न केवल नवयुवकों को प्रभावित किया, अपितु ऐसी प्रजा को जो दरबार के प्रति विश्वास व आस्था रखती थी उनके भी विश्वास को इस नर संहार ने चूर – चूर कर दिया । और हिटलर जैसे क्रूर शासन का परिचय दिया। अपने हक की आवाज बुलंद करने वाले मासूम लोग क्रूरता का शिकार बने। सम्पूर्ण देश मे इस काण्ड की आलोचना हुई। टिहरी राजशाही के काले अध्याय के तौर पर याद किये जाने वाले तिलाड़ी काण्ड को 87 वर्ष पूर्ण हो गये है लेकिन आज भी तिलाड़ी गोली काण्ड यमुना घाटी के लोगो में सिरहन पैदा कर देता है।

सन् 1949 के बाद बड़कोट तहसील के अन्तर्गत तिलाडी में शहीद दिवस मनाया जाता है। साथ ही ' तिलाडी स्मारक सम्मान समिति' का गठन किया गया है जो प्रति वर्ष क्षेत्र के उल्लेखनीय कार्य करने वाले व्यक्तियों को 'तिलाडी सम्मान' से सम्मानित किया जाता है। इस प्रकार तिलाडी का जन संघर्ष एक प्रेरणा का स्त्रोत रहा जिसने सम्पूर्ण देश की जनता में स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना को और अधिक उग्र व प्रबल कर दिया।[20]

'सन्दर्भ ग्रन्थ सूची'

1. भक्त दर्शन, गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ सन् 1980
2. रतूडी, सत्यप्रसाद, टिहरी राज्य के जनसंघर्श की स्वर्णिम गाथा पृ0 –65
3. मनराल, धर्मपाल – स्वतन्त्रता संग्राम में कुमाँऊ– गढ़वाल का योगदान पृ0–105
4. डबराल, शिवप्रसाद टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास भाग–2 पृ–40–41
5. सेटलमेन्ट रिपोर्ट, उत्तरकाशी पृ0 संख्या– 1 एवं मनराल, धर्मपाल – स्वतन्त्रता आन्दोलन में कुमाऊँ गढ़वाल का योगदान सन् 1978 पृ– 105.

6. All forests being the properly of this highness, no forest produce without payment is permissible to any body as a matter of right but by way of favour. The following concessions have been given by his highness and are liable to be can called any time his highness wishes टिहरी गढ़वाल राज्य फॉरेस्ट मैन्युएल पृ0 सं0 23.
7. कर्मभूमि दिनांक 26 जनवरी सन् 1956 में सुन्दरलाल बहुगुणा का लेख।
8. मनराल, धर्मपाल पूर्वोक्त पृ0 संख्या –105
9. रतूडी, सत्यप्रसाद पूर्वोक्त –पृ0 –67
10. बिजल्वाण, राधे श्याम–मध्य हिमालय की रियासत में ग्रामीण जनसंघर्षो का इतिहास (रिसायत टिहरी गढ़वाल धाड़ा व ढंडक) पृ0 संख्या –121
11. कर्मभूमि दिनांक– 26जनवरी 1956 में धूलिया का लेख।
12. अरविन्द बर्फियालाल –तिलाडी रवांई काण्ड पृ0 –32 सन् 1971 पुरोला (उत्तरकाशी)
13. डबराल शिवप्रसाद, टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास भाग–2 पृ0 43.
14. गैरोला, बृजभूषण रियासती शड़यन्त्रों का इतिहास युगवाणी प्रकाशन पृ0 –73
15. रतूडी, सत्यप्रसाद पूर्वोकत पृ0–71
16. जगूडी, नागेन्द्र– रवांई का जन विद्रोह– उत्तराखण्ड का प्रथम जनान्दोलन पृ0 290
17. सिंह, ठाकुर प्रसाद– स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक (गढ़वाल डिवीजन) पृ0 – 05,पैरा 23
18. एनुवल एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ टिहरी गढ़वाल स्टेट 1930 – 31 पृ0 1 जनरल एण्ड पोलिटिकल पृ0 सं–02–04
19. 'हिमकिरीट' में सुन्दरलाल बहुबुणा का लेख।
20. सेटलमेंन्ट रिपोर्ट उत्तरकाशी पृ0 संख्या –01

शूद्र जातियों में अस्पृश्यता की समस्या

बृजेश मौर्य*

शूद्र जातियों में अस्पृश्यता की समस्या भारतीय हिन्दू समाज की संवेदनहीनता का जीता–जागता प्रमाण है वल्कि घोर अपमान भी है। यह किसी भी देश काल की परिस्थितियों में सभ्य समाज की घोर विरोधी परम्पराओं में अतिक्रूरतापूर्ण एवं अमानवीय विरोधी जीवन (सामाजिक) का द्योतक है, जहाँ प्राचीन समय में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का डंका नैतिक सदाचार के मामलों में पूरे विश्व में बजता था और जिसे 'विश्वगुरू' के ताज से सुशोभित किया गया था, कालान्तर में वहीं आज छुआछूत एवं अस्पृश्यता की अमानवीयपूर्ण समस्या के कारण पूरे संसार में भारत का मस्तक झुका दिया है। अस्पृश्यता जैसी सामाजिक घटना (बुराई) एवं उसका इतिहास का दर्शन प्राचीन काल में सिन्धु घाटी की सभ्यता में तीन वर्ण 'ब्राह्मण, क्षत्रि एवं वैश्य के अतिरिक्त एक चौथे वर्ण 'शूद्र' का उल्लेख मिलता है।[1]

जिसका विकास उत्तर वैदिक काल के विविध आयामों से होकर भारतीय भू–भाग के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न प्रकार से हुआ। जिसका लक्षण उत्तरी भारत से लेकर दक्षिणी भारतीय भू–भागों में इसका स्वरूप अतयन्त तीक्ष्ण एवं बीभत्स रूप में दिखलाई पड़ता है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि भारतीय हिन्दू समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि होता है। ब्राह्मणवादी परम्परा के अनुसार, ''शूद्रों की आहट एवं परछाई माल से ब्राह्मण अपविल एवं अशुद्ध हो जाता था, उन्हें घनघोर शारीरिक यातनाएँ दी जाती थी, जिसकी कल्पना मात्र से ही आज हमारी रूहें काँप जाती हैं, उन्हें शिक्षा, धन, सामाजिक प्रस्थिति, सम्मान, धार्मिक एवं नागरिक अधिकारों से वंचित किया गया। क्योंकि उनका जन्म 'शूद्र' जाति में हुआ था।[2] प्राचीन काल से ही भारतीय समाज की सभी शूद्र जातियाँ ब्राह्मणों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का प्रमुख आधार रही है। जिन्हें स्थायित्व प्रदान करने का कार्य 'जजमानी व्यवस्था' ने किया है। जो आगे चलकर शोशण एवं मानसिक गुलामी का पर्याय बन गयी। पूर्व भारतीय समाज में उनके विरूद्ध इस प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ एवं संगठित संगठनों को खड़ा कर दिया गया था कि उनका सामाजिक एवं आर्थिक विकास अवरूद्ध हो गया। जहाँ भारतीय समाज में उन्हें घोर अपमान, प्रताड़ना एवं नाना प्रकार की निर्योग्यताओं के कारण धीरे–धीरे समाज के निम्न स्तर के अंतिम हासिएँ पर पहुँच गयी।[3]

अस्पृश्यता क्यों और कैसे प्रारम्भ हुई और पूरे भारत वर्ष में किस प्रकार फैल गयी, यह एक जटिल प्रश्न है? जिसका क्रमबद्ध एवं सिलसिलेवार वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है और न ही तार्किक एवं अपेक्षित है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि 'मनुष्य जन्म से शूद्र होता है, तब प्रश्न उठता है कि सभी लोग 'शूद्र' हैं जिसमें 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। यह एक यक्ष एवं विचारणीय प्रश्न हैजिसका वर्णन करना संभव नहीं है।

भारतीय एवं विदेशी इतिहासकारों ने एक मत से स्वीकार किया है कि 'भारत में सांस्कृतिक एवं सांस्कारिक रूप से मानव समूहों में रहने वाले निम्न जातियों एवं निम्न कार्यों में लगे व्यवसाय करने वाले लोगों को ही 'शूद्र' मानकर उन्हें 'अस्पृश्य' घोषित कर दिया गया।[4] तत्पश्चात् ऋग्वैदिक कालीन ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा उनकी अवहेलना एवं आलोचना कर इसे वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान की। उदाहरण स्वरूप धर्मसूत्रों के अनुसार, 'जिन लोगों के द्वारा गोमांस खाना जारी रखा, उन्हें 'अछूत' करार दिया गया। इसी

* शोध छात्र (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

प्रकार जिन लोगों ने मरे हुए जानवरों के निस्तारण के पश्चात उनके चमड़ों को अन्य भौतिक कार्यों के लिए निकालने का प्रयास किया गया उन्हें भी अपवित्र एवं अस्पृश्य की श्रेणी में रख दिया गया। कालान्तर में आगे चलकर भारतीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली निम्नवर्गीय उप–जातियाँ जिन्हें 'शिल्पी' कहा जाता था, जैसे– चर्मकार, निशाद, जुलाहा, रथकार, शिकारी, बहेलिया, चाण्डाल, धीमर तथा पुल्कश आदि को भी इसी श्रेणी में डाल दिया गया।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से व्याप्त सांस्कृतिक बुराईयों, कुरीतियों, छुआछूत एवं अस्पृश्यता की समस्या के कारण विभिन्न समूहों में विखण्डित समाज के निम्न वर्गीय लोगों में नयी चेतना एवं जागृति पैदा करने का कार्य तात्कालीन भारतीय संतों द्वारा किया गया। ब्राह्मणवादी परम्परा का सबसे प्रखर विरोध भगवान महात्मा गौतम बुद्ध के द्वारा किया गया। महामानव भगवान बुद्ध कर्मकाण्ड एवं वाह्य आडम्बर के सख्त खिलाफ थे। चमत्कार, अलौकिक शक्ति, मुहूर्त निकालने की प्रवृत्ति एंव ज्योतिा में उनका विश्वास न था।[5] समाजमें अतिशोषण का शिकार निम्न वर्गीय लोगों को महात्मा बुद्ध ने 'संघ' में प्रवेश की अनुमति प्रदान कर दी। केवल चोरों, व्यभिचारी और हिंसा का मार्ग अपनाने वालों के लिए संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं थी, संघ द्वारा प्रवेश की अनुमति से निम्न जातियों की सामाजिक प्रस्थिति में सुधार संभव हुआ। भगवान महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म 'मानवता एवं समानता के सिद्धान्त' पर आधारित था। एक अवसर पर महात्मा बुद्ध ने कहा था कि ''कर्मकाण्डोंमें कोई क्षमता नहीं, प्रार्थना व्यर्थ है और जादू–टोना, झाड़–फूँक में बचाव करने की शक्ति नहीं है।'' संघ के इन कार्यों से प्रभावित होकर अनेक निम्न जातियों के लोगों का आकर्ाण 'बौद्ध धर्म' की तरफ हुआ। जहाँ उन्हें 'आदर एवं सम्मान' मिला और उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। बौद्ध धर्म के इन कार्यों से प्रभावित होकर अन्य भारतीय धर्मों ने भी निम्न जातियों के लिए अपने–अपने धर्मों में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त कर दिया। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म ने भी निम्न वर्गीय जातियों के प्रति 'दयालुता एवं उदारता' की भावना सेप्रेरित हुआ। प्रायः ऐसा माना जाता रहा है कि 'जैन धर्म उच्च वर्ण के लोगों का धर्म है।' इन दोनों धर्मों ने शूद्र जातियों के साथ होने वाले 'दुर्व्यव्यवहारों एवं छूआछूत, जाति–पाति से सम्बन्धित भावना को अस्वीकार कर दिया। जैन ग्रन्थ के अनुसार, प्रायः ऐसा माना जाता है कि सवर्णों की भाँति शूद्रों एवं दासों को भी धन एकत्रित करने और सम्मानपूर्वक अपने जीवन के भरण–पोशण का अधिकार है। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के द्वारा निम्न वर्गीय जातियों की प्रस्थिति को सुधारने का अथक प्रयास किया और इसमें आंशिक रूप से सफल भी रहा। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है– ''समाज में आर्थिक विशमता को अक्षुण रखते हुए बुद्ध ने वर्ण–व्यवस्था, जातीय ऊँच–नीच के भाव को हटाना चाहा था जिससे वास्तविक विशमता तो नहीं हटी किन्तु निम्न वर्ग का सद्भाव जरूर बौद्ध धर्म की तरफ बढ़ गया।[6] वे ब्राह्मणवादी वर्ण–व्यवस्था में किसी भी प्रकार का मूलभूत परिवर्तन करने में असफल रहे क्योंकि भारतीय जातीय वर्ण–व्यवस्था ज्यों का त्यों बनी रही। प्राचीन भारतीय समाज में मौर्य काल एवं मौर्योत्तर काल तक निम्न वर्गीय लोगों की प्रस्थिति तो ठीक रही लेकिन गुप्तकाल आते–आते इनकी स्थिति अत्यन्त दैनीय हो गई, क्योंकि इस समय भारतीय वर्ण–व्यवस्था अपने अंतिम पायदान को छू लिया था। इस काल में शूद्रों के साथ अत्यन्त ही अमानवीय दुर्व्यव्यवहार किया गया जिसके कारण छुआछूत एवं अस्पृश्यता की समस्या शूद्र जातियों के लिए अंतिम पड़ाव साबित हुई।

ब्राह्मणवादी वर्ण–व्यवस्था के जनक 'मनु' महाराज ने कई ऐसे विधानरूपी ग्रन्थों की रचना की जिससे शूद्रों की स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ा। मनु का विचार था कि ''शूद्र को संपत्ति नहीं जमा करनी देनी चाहिए, इससे वह ब्राह्मणों को सताने लगेगा।'' मनु के अनुसार, ''यदि शूद्र धन–संपत्ति इकट्ठा भी करता है तो वह संपत्ति अपने मालिक को दे देनी चाहिए।[7] मनु ने आगे लिखा है कि, ''यदि शूद्र धन–संपत्ति

एकत्रित भी करता है तो उस धन को उसके मालिक द्वारा बलपूर्वक छीन लेना चाहिए। क्योंकि उसे संपत्ति रखने का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार एक बात स्पष्ट होती है कि 'मनु' के द्वारा, 'शूद्रों को आर्थिक दृष्टि से दीन–हीन बनाकर रखने का प्रयास किया गया। उनके द्वारा ही शूद्रों को उच्च वर्ण के लोगों से दूर रखने का प्रयास किया। क्योंकि इससे सामाजिक बुराईयों जेसे छुआछूत एवं अस्पृश्यता की समस्या को प्रश्रय देने का काम किया। शूद्रों के आर्थिक एवं नागरिक अधिकार छीन लिया गया। मनु के अनुसार, उच्च वर्ण के लोगों के प्रति अपराध करने वाले शूद्रों के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए ''यदि कोई शूद्र किसी द्विज के नाम और जातियों की चर्चा तिरस्कारपूर्वक करे तो उसकी दसों अंगुलियों को काटकर उसके मुँह में ठूँस देनी चाहिए।[8] उन्होंने आगे लिखा है कि ''यदि वह उदण्डता के साथ ब्राह्मणों को उनका कर्तव्य सिखाये तो राजा को उनके मुँह और कान में गर्म तेल डलवा देना चाहिए।[9] तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार, ''शूद्रों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। शूद्र अपने स्वामी के सामने उनकी आज्ञा लेकर ही कुछ कर सकता था और उनके आज्ञा के बिना कुछ नहीं कर सकता था।[10] इससे पता चलता है कि शूद्र से यह उम्मीद की जाती थी कि वह अपने स्वामी के बारे में कुछ नहीं बोलेगा। इस प्रकार वह पूर्णतया गुलामों एवं दासों की भाँति समझा जाता था। (तैत्तरीय ब्राह्मण ¯11¯2) उन्हें शिक्षा ग्रहण करने अथवा धार्मिक संस्कारों को सम्पन्न करने का अधिकार न ही था।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि 'मनु' जैसे घनघोर ब्राह्मणवादी एवं आर्य सभ्यता के पोषक ने शूद्रों के विरूद्ध कठोर दण्ड का प्रावधान कर न केवल भारतीय हिन्दू सनातन समाज के हाँसिए पर लाकर खड़ा कर दिया, वल्कि व्यवहारतः उन्हें समाज से वहिष्कृत कर उनके ऊपर नाना प्रकार के अत्याचार, तिरस्कार, दुर्व्यव्यवहार तथा अन्य सामाजिक निर्योग्यताएँ लाद दीं जिसके कारण भारतीय सनातन समाज में स्थापित 'शूद्रों' में 'अस्पश्यता की समस्या' अतयन्त गम्भीर स्वरूप धारण कर लिया। अब न केवल हिन्दू समाज में निम्न स्तरीय व्यवसाय के कार्यों में संलग्न निम्न जातियों को ही अस्पृश्य मान लिया गया। वल्कि अनेक कृषक, शिल्प, एवं व्यापारिक जातियों को भी अस्पृश्यता की श्रेणी में डाल दिया गया। जिसका प्रमुख कारण एक राजा एक राजधर्म और एक शासन–सत्ता की स्थापना करना मात्र था।

सन्दर्भ :

1. काम्बले, वी.आर. (1979) : कास्ट एण्ड फिलोसफी इन प्री–बुद्धिष्ट इण्डिया, परिमल प्रकाशन, औरंगाबाद।
2. प्रकाश, लुईस : कास्टिज्म एज मोर हारडेंस दैन रेसिज्म : डरवन एण्ड दलित डिस्कार्स, इण्डियन सोशल इंस्टीट्यूट, 2001, पृष्ठ 211
3. वही, पृष्ठ–113
4. वही, पृष्ठ–114
5. देवेश कुमार वेसन्तरी– भारत के सामाजिक क्रांतिकारी, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली, 2004
6. राहुल सांकृत्यायन–बौद्ध दर्शन, पृष्ठ 19
7. मनुस्मृति, IX, 157
8. मनुस्मृति, VIII, 417
9. मनुस्मृति, VIII, 272
10. तैत्तरीय ब्राह्मण, ...11..2

जहाँगीर का न्याय प्रशासन

सूरज मिश्रा*

मुगल न्यायिक प्रणाली का सर्वोच्च अधिकारी सम्राट था। केन्द्रीय शासन के न्यायिक कार्य से सम्राट के अतिरिक्त प्रमुख काजी (काजी–उल–कुजात) सद्र तथा दीवान सम्बन्धित थे। सम्राट के द्वारा दीवानी तथा फौजदारी दोनों तरह के मुकदमों का निर्णय किया जाता था उसका दरबार प्राथमिक अदालत और अपील की सर्वोच्च अदालत दोनों था। उसके निर्णय के विरूद्ध कहीं अपील नहीं हो सकती थी।

सम्राटा प्रत्येक दिन खुले आम दरबार में कुदमें का निर्णय करता था। प्रत्येक दिन न्याय करने के अतिरिक्त मुगल सम्राटों ने सप्ताह में एक दिन न्याय के लिए सुरक्षित रखा था। उस दिन न्यायिक कार्य के लिए दरबार लगता था। अकबर ने न्याय के लिए बृहस्पतिवार तथा जहाँगीर ने मंगलवार का दिन निश्चित किया था। इस दरबार में कजी, मुफ्ती, दरोगा–ए–अदालत, कोतवाल, मीर अदल तथा अन्य उच्च अधिकारी उपस्थित रहते थे। न्यायाधिकारी एक–एक कर के मामले को पेश करते और सम्राटा हर मामले के तथ्यों को जांच कर के निर्णय देता था। कानून के विशय में मतभेद होने पर वह प्रमुख काजी से कानूनी परामर्श प्राप्त कर सकता। आवश्यकता पड़ने पर सम्राट किसी महत्वपूर्ण मुकद्मे के लिए विशेश बैंच भी नियुक्त कर सकता था।[1]

मुगल सम्राट न्याय करना अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे। कुरान में लिखा है कि 'अपने अल्लाह की आज्ञाओं को न्यायपूर्वक पूरा करो' इसलिये मुगल सम्राट इसके अनुसार चलने का प्रयत्न करते थे। जहाँगीर के विशय में डच यात्री डी लायटे लिखता है कि ''सप्ताह में एक दिन (मंगलवार) वह न्यायालय में स्थान ग्रहण करता था। अपने सामने लाये गये दीवानी और फौजदारी के मुकद्में को शान्ति से सुनता था और प्रत्येक पर अपना अन्तिम निर्णय सुनाता था।''[2] जहाँगीर के काल में विलियम हाकिंस लिखता है कि भारत के सम्राट प्रत्येक दिन न्याय के लिये बैठते थे। विदेशी यात्री जहाँगीर के काल में न्याय के लिये सोने की जंजीर का उल्लेख करते हैं। सम्राट ने महल के अन्दर घंटा (या घंटे) लगवा रखा था जो एक जंजीर से बाहर की ओर से जुड़ा था। कोई भी फरियादी न्याय के लिये घंटा बजा सकता था। सम्राट उसको बुलवाता था तथा उस पर उचित कार्यवाही करता था।[3] जहाँगीर अपनी आत्मकथा में लिखता है'' जिस समय हम सिंहासन पर बैठे उस समय जो पहली आज्ञा दी वह न्याय की जंजीर लगाने की थी। जिस का एक सिरा शाहबुर्ज के कंगूरे में दृढ़ किया हुआ था। वह इसलिये था कि यदि न्यायालयों के अधिकारी निर्णय करने में विलम्ब करे अथवा छल कपट या बहाना करे तो न्यायेच्छुक इस जंजीर को हिलाकर ध्यान आकर्शित करे जिससे उन्हें शीघ्र न्याय प्राप्त हो सके। यह जंजीर असली सोने की थी। यह तीस गज लम्बी उसमें 60 घंटियां लगी थी। उसका तौल चार भारतीय मन था जो ईराक के लगभग 42 मन के बराबर होता है।[4]

बर्नियर अदालतों की सरलता की तारीफ करता हुआ लिखता है कि फरियादी अपनी अर्जियां लिखकर लाते थे और इस तरह लिए रहते थे कि अदालत में एकत्र अधिकारी उन्हें देख लें। सारी अर्जियां सम्राट के सामने उपस्थित की जाती थीं। वह उन्हें पढ़वाकर सुनता और हर फरियादी को बुलवाकर खुद

* शोध छात्र, (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

जिस तरह करता और आवश्यक कार्यवाही के लिये आज्ञा प्रदान करता था। बर्नियर भी इसका समर्थन करता है। वह सम्राटों की न्याय प्रियता की प्रशंसा करते हुये लिखता है ''हम एशिया के शासक को बर्बर और क्रूर मान सकते हैं किन्तु अपनी प्रजा को न्याय देने के मामले में वे हमेंशा लापरवाही नहीं करते थे।[5]

सन्दर्भ सूची

1. हरिशंकर श्रीवास्तव, मुगल शासन प्रणाली, पृ. 243–44
2. आर.के. सक्सेना, मुगल शासन प्रणाली, पृ. 196
3. हरिशंकर श्रीवास्तव, मुगल शासन प्रणाली, पृ. 244–45 एवं लैट जौन, दि एम्पायर ऑफ दि ग्रेट मुगल, पृ. 93
4. बेवरिज रोजर्स, तुजुक–ए–जहाँगीरी, भाग–1, पृ. 7
5. वहीं

समकालीन सामाजिक आन्दोलनों का सिंधिया कालीन ग्वालियर राज्य पर प्रभाव

डॉ. सुनील कुमार सक्सेना*

सिंधिया शासकों द्वारा स्थापित ग्वालियर राज्य मराठा राजशाही से ही अंकुरित हुआ था। ग्वालियर राज्य की स्थापना उस समय हुई थी, जब अंग्रेजी साम्राज्यवाद तीव्रता से विकसित हो रहा था और भरण शक्ति क्षीण हो रही थी, परन्तु राज्य के सिंधिया शासकों की महिलाओं के प्रति सम्मान की सोच एवं दृश्टिकोण मराठा शासक शिवाजी के अनुरूप थी।[1]

ग्वालियर राज्य में 18वीं शताब्दी में भारतीय समाज में प्रचलित सति प्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह तथा बाल हत्या जैसी सामाजिक बुराईयाँ प्रचलित थीं। राज्य द्वारा सामाजिक कुरीतियों का जब भी विरोध किया गया, सिंधिया शासकों ने इस विरोध का समर्थन किया।[2]

सन् 1863 ई. में जब बंगाल में लगभग 21000 हिन्दुओं ने कुप्रथाओं पर निषेध आरोपित करने के लिए विधान निर्माण के लिए अनेक याचनाएं सरकार के समक्ष रखी तो बंगाल सरकार द्वारा संस्तुत विधेयक को प्रस्तुत करने से परिषद गवर्नर जनरल ने इंकार कर दिया। इसने स्थिति के अवलोकन के निमित्त एक समिति नियुक्त करने का परामर्श दिया। 1863 ई. में समिति की नियुक्ति हुई जिसमें अनेक प्रमुख भारतीय एवं यूरोपीय सम्मिलित थे। 1867 में उन्होंने अपनी रिपोर्ट इस सम्मति के साथ प्रस्तुत की कि वे किसी डिक्लेटरी लॉ या ऐसे विधायक उपाय या सुझाव न दे सकते थे जो बहुविवाह की कुरीति को दबाने के लिए पर्याप्त हो। सरकार के इंकार का कारण यह बताया गया कि यह प्रथा एक सामाजिक तथा धार्मिक संस्था थी। तत्कालीन सिंधिया शासक जयाजी सिंधिया ने इस रिपोर्ट का विरोध किया।[3]

19वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त और सर्वाधिक अग्रगामी प्रगतिशील विचारों वाले भारतीय भी बहु विवाह जैसी कुप्रथाओं को सामाजिक विधि–निर्माण के द्वारा उन्मूलित करने के विरूद्ध थे।[4] उनकी सम्मति थी कि पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार–प्रसार और उससे उत्पन्न होने वाली सामाजिक जागृति, शायद आर्थिक कारणों से मिलकर, धीरे–धीरे इन दोशों को मिटा देगी।[5] 1892 में विशेष विवाह अधिनियम पारित हुआ, जिसने किसी भी भारतीय जाति या धर्म के सदस्य के लिए यह संभव बनाया कि वह किसी भी जाति या धर्म के सदस्य के साथ विधिसम्मत रूप से विवाह करे बशतें सम्बद्ध पक्ष विवाह के समझौते को पंजीचित करवाये और अन्य बातों के साथ–साथ घोषित करें कि वे किसी धर्म से सम्बन्ध नहीं रखते।[6] इस विवाह अधिनियम का ग्वालियर राज्य पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ग्वालियर राज्य में माधवराव सिंधिया (प्रथम) का शासन था, जिसे सिंधिया कालीन इतिहास में स्वर्णकाल भी कहा जाये, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। माधवराव सिंधिया ने राज्य के सर्वागीण विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने राज्य में शिक्षा, कला एवं साहित्य के विकास के साथ–साथ सामाजिक स्तर सुधारने के भी प्रयास किये।[7]

ग्वालियर राज्य में सती प्रथा, प्रथा, पुनर्विवाह, अन्तर्जातीय विवाह के साथ–साथ, समाज में बाल–विवाह की कुप्रथा विद्यमान थी।[8] जो स्त्रियों की स्थिति में ह्यस का कारण बनी हुई थी, कम उम्र में

* विभागाध्यक्ष, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुना (म.प्र.)

बालिकाओं की शादी करना उनके साथ अन्याय करना था। भारत में 5 से 10 वर्श तक की आयु के बच्चों के विवाह भी होते थे।[9]

ब्रह्मसमाज तथा आर्य समाज के नेताओं ने इस कुप्रथा का विरोध किया।[10] बाल विवाह और अपरिपक्व मातृत्व के दोश प्रत्यक्ष थे। विधि निर्माणों द्वारा जिनमें बालविवाह को निशिद्ध या दण्डित करने का प्रावधान नहीं था बल्कि एक विशेष अवस्था से कम की बालिका से संभोग करना और इस प्रकार बालिका–पत्नी के साथ विवाह का निष्पादन पुरूष या पति के लिए दण्डनीय बनाया गया।[11] 1860 ई. मे पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथ्रपगतिशील हिन्दुओं के प्रयत्नों से एक विधान निर्मित हुआ जिसके अनुसार वय 10 वर्ष निर्धारित की गई।[12] उनके प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत 10 वर्ष से कम वय की कन्या के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करना निशिद्ध किया गया महिलाओं की स्थिति सुधार की दृष्टि से तत्कालीन सिंधिया शासक ने ग्वालियर में इस अधिनियम को प्रभावशील बनाने के लिए प्रशासनिक प्रयास किये।[13]

सन् 1921 ई. में बाल विवाह निषेध अधिनियम पारित हुआ, जिसके अन्तर्गत 14 वर्ष से कम वय की बालिकाओं और 18 वर्ष से कम के बालकों का विवाह निशिद्ध एवं दण्डनीय घोषित किया गया। 1984 में दो विधेयकों के द्वारा अपराधियों को दागने की घृणित प्रथा को समाप्त किया गया और विक्षिप्त जनों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया गया। ग्वालियर राज्य पर इस अधिनियम का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। राज्य के महाराजा माधवराव सिंधिया ने सन् 1912 ई. में मजलिस ए. कानून की स्थापना की, जिसके बाद, राज्य में बाल विवाह निषेध कानून पारित किया गया। इस कानून को पारित कर सिंधिया शासक माधवराव सिंधिया ने राज्य में महिलाओं के सामाजिक उन्नयन में महत्वपूर्ण योगदान किया।[14]

ग्वालियर राज्य में सम्मति इतनी प्रभावशाली नहीं हो पाई कि विवाह के धार्मिक अनुष्ठान को निरस्त कर सके और विवाह को अवैध तथा अप्रभावी घोषित कर सके भले ही विवाह कितनी ही छोटी आयु में क्यों न सम्पन्न हुआ हो। जैसे–जैसे सामाजिक आदर्शों में परिवर्तन आया और यह विश्वास प्रचलित हुआ कि लड़कियों को शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए, शनैः बाल विवाह की कुप्रथा का लोप होता गया। एक प्रबल नैतिक शक्ति मूल रूप से इस कुप्रथा के विरूद्ध सक्रिय रही है, जिस कारण बाल विवाह में निरंतर कमी आती गई और बाल–विवाह पर अंकुश लगा लिया गया। जिससे स्त्रियों की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुएऔर उनकी सामाजिक दशा भी अच्छी हो गयी।

सिंधिया शासकों ने ग्वालियर राज्य में महिलाओं सामाजिक अन्यायपूर्ण कुप्रथाओं से मुक्ति दिलाने की दिशा में वैधानिक कदम उठाने तथा कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन किये उन्होंने समाज सुधार की प्रक्रिया के शुरूआत के लिए वातावरण या पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायता अवश्य पहुँचायी। किन्तु भारतीय समाज के उत्थान के लिए सामाजिक विधि निर्माण से वे प्रायः बचते रहे। सिंधिया शासकों ने स्त्रियों के सामाजिक क्षेत्र से सम्बन्धित अनेक समस्याओं के समाधान के लिए अनेक सुधार किये गये और विधानों का निर्माण किया गया। मन्दिरों में वेश्यावृत्ति की प्रथा प्रचलित थी यद्यपि इस तरह की प्रथा प्राचीन यूनान में भी प्रचलित थी। ''देवदासियों'' की वंशागत जाति ही थी और ये बचपन से ही मन्दिर की सेवा में समर्पित हो जाती थी। देवदासी प्रथा के उनमूलन के लिए सिंधिया शासकों ने गम्भीर प्रयास किये।[15]

ब्रिटिश कालीन भारत में कुछ अपवादों को छोड़कर महिलाओं को शिक्षा नहीं मिलती एक समय था जब भारत में महिला शिक्षा के समर्थक तो नहीं थे अलबत्ता उसके विरोधी और शत्रु ज्यादा थे। अब तक

महिला जाति कई मंजिलों से गुजर चुकी हे, पूरी उदासीनता, उपहास और आलोचना और स्वीकृति। अब यह आसानी से कहा जा सकता है कि भारत में सर्वत्र महिलाओं की शिक्षा को भी उतना ही आवश्यक समझा जा रहा है जितना पुरूषों की शिक्षा को, इसे राष्ट्रीय प्रगति की आवश्यक शर्त माना जा रहा है।

अतः यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महिलाओं को संबल प्रदान करने वाले अनेक आन्दोलन उछल पड़े थे। सती प्रथा, बाल विवाह, देवदासी प्रथा आदि पर नियम बनने शुरू हो गये थे। महिलाएं समाज में अपने को देवदासी प्रथा आदि पर नियम बनने शुरू हो गये थे। महिलाएं धीरे–धीरे अपने कदम राजनीति में भी उतारना शुरू किया और भारतीय नारी की अस्मिता को बनाये रखने में कोई कसर नहीं रखी, फिर भी महिलाओं की सम्पूर्ण स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इनकी स्थिति सोचनीय थी, किन्तु सिंधिया शासक माधवराव सिंधिया प्रथम के प्रयासों से ग्वालियर राज्य में महिलाओं की स्थिति सम्पूर्ण भारत की तुलना में अच्छी थी। राज्य में महिलाओं को पुरुषों के समान सामाजिक अधिकार प्राप्त थे, जिसमें जीवन जीने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार एवं सामाजिक न्याय का अधिकार प्रमुख थे।

ग्वालियर राज्य में सिंधिया शासकों ने राज्य की महिलाओं के सामाजिक उन्नयन के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीय स्तर पर महिला सम्बन्धि सामाजिक सुधार आन्दोलनों के प्रभाव की परिणिनिति में निर्मित अधिनियमों का राज्य में कठोरता से लागू किया जाना सिंधिया शासकों की महिलाओं के प्रति सामाजिक उन्नयन संवेदनशीलता का परिचायक था।

ग्वालियर राज्य में गोद प्रथा यथावत रूप से संचालित रही। ग्वालियर राज्य का कोई भी जागीरदार अपने उत्तराधिकारी के रूप में गोद ले सकता था और उसे समस्त सम्पत्ति अधिकार प्रदत्त थे। अतः संतानहीन महिला राज्य में उपेक्षित नहीं थीं। समाज में ऐसा माना जाता था संतानोपत्ति ईश्वराधीन है। समाज में प्रचलित इस मान्यता का श्रेय भी ग्वालियर राज्य के सिंधिया शासकों को जाता है कि जिन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य के गोद व्यवस्था के विरूद्ध राज्य में गोद को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया।

ग्वालियर राज्य में देवदासी व्यवस्था एवं बहु विवाह व्यवस्था पूर्णतया निषेध थी। जिसके कारण ग्वालियर राज्य में महिलाओं को सामाजिक सम्मान प्राप्त था। इस प्रकार ग्वालियर राज्य के सिंधिया शासकों ने ग्वालियर में महिलाओं के सामाजिक उन्नयन को दृष्टिगत रखते हुऐ राज्य में देवदासी एवं बहु विवाह जैसी कुरीति को समाप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। समकालीन समाज सुधार आन्दोलनों के प्रभाव में ग्वालियर राज्य अन्तिम शासक जीवाजीराव सिंधिया ने भी ग्वालियर राज्य में महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक प्रयास किये। जीवाजीराव सिंधिया की महारानी विजयाराजे सिंधिया भी महिलाओं के जीवन स्तर सुधारने के प्रति अत्यन्त संवेदनशील थीं। श्रीमंत विजयाराजे सिंधिया का मानना था कि राज्य में यदि एक महिला शिक्षित होगी तो एक परिवार स्वतः शिक्षित होगा। अतः पुरूष शिक्षा की अपेक्षा महिला शिक्षा अनिवार्य की जाना चाहिए।

श्रीमंत विजयाराजे सिंधिया के उक्त विचार के अनुरूप सिंधिया शासक जीवाजीराव सिंधिया ने राज्य में महिला शिक्षा के विस्तार एवं विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया और राज्य में स्नातक स्तरीय महिला शिक्षा के विकास के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी ग्वालियर राज्य के सिंधिया वंशजों ने ग्वालियर में महिलाओं के सशक्तिकरण एवं सामाजिक उन्नयन के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिये। सिंधिया शासकों ने अपने राज्य

की सम्पत्ति को महिला शिक्षा के विकास के लिए कमलाराजे कन्या महाविद्यालय तथा पद्माराजे कन्या विद्यालय के रूप में प्रदत्त की। दोनों ही महिला शिक्षा संस्था वर्तमान में ग्वालियर में महिला शिक्षा के माध्यम से महिलाओं के सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

ग्वालियर राज्य में महिलाओं की सामाजिक उन्नति एवं उन्नयन में सिंधिया शासकों के योगदान का समकालीन सामाजिक आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिंधिया शासकों ने ग्वालियर राज्य में महिलाओं के जीवन स्तर के सामाजिक बुराईयों को समाप्त कर उन्नयन में महत्वपूर्ण योगदान दिया और सदैव ही महिलाओं को पुरूषों के समान सामाजिक अधिकार प्रदत्त किये। सम्पूर्ण विवेचना के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि सिंधियाकालीन ग्वालियर राज्य पर समकालीन सामाजिक आन्दोलनों का व्यापक प्रभाव पड़ा।

सन्दर्भ

1. बाबू विशम्भर नाथ भार्गव, गजेटियर रियासत ग्वालियर, भाग–1, भारत विद्या भवन प्रेस, 1912, पृ. 27–28।
2. पी.एम. जोशी, सिलेक्शन फ्रॉम पेशवा दफ्तर, बम्बई, 1962, पृ. 221।
3. जयाजी प्रताप, अंक–4, 1901 ।
4. प्रताप सिंह, आधुनिक भारत का सामाजिक–आर्थिक इतिहास जयपुर, 1990, पृ. 137।
5. वही।
6. वही।
7. डॉ. राजेश सिंह सिसौदिया, ग्वालियर के सिंधिया शासकों का सामाजिक–सांस्कृतिक विकास में योगदान, ग्वालियर, 1997, पृ. 204 ।
8. गोविन्द सखाराम सरदेसाई, मराठी रियासत, भाग–4, बम्बई, 1940, पृ. 231–231।
9. वही।
10. प्रताप सिंह, पूर्वोक्त, पृ. 141 ।
11. वही।
12. वही।
13. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ ग्वालियर स्टेट, 1927।
14. बाबू विशम्भर नाथ भार्गव, पूर्वोक्त, पृ. 208 ।
15. वही।

कलाभूषण प्रो. शरण : एक समीक्षावादी चित्रकार

डॉ. नीता योगेन्द्र पहाड़िया*

छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है– 'यो वै भूमा तत् सुखम् नाल्प सुखम् अस्ति' अर्थात असीम, विरट या भूसा ही सुख रूप है। अल्प या सीमित में सुख नहीं है। उपयोगिता सम्बन्धी समस्त लाभ और प्रेम मूल्यों का जीवन बड़ा कम होता है। उनका सीमित होना उनके सापेक्ष स्वभाव के कारण है, लेकिन जो विराट है, असीम है उसका प्रधान लक्षण है– उसकी निरपेक्षता। सदियों से जब से मानव ज्ञान पटल विचारात्मक हुआ है, तब से वह इसी सापेक्षता और निरपेक्षता पहेली समझने में जुटा हुआ है।

सापेक्षता अनित्य है और परिवर्तनशील। निरपेक्षता नित्य है और सार्वभौम। कितने दर्शन बने, कितने साहित्य आये, कितनी कलायें उभरी–सब में बस यही परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील का द्वन्द और दोनों के सत् समीकरण की तलाश। ऐसालगता है कि मनुष्य की सर्जनाशीलता के समक्ष यह एक ही यक्ष प्रश्न ही है कि अनित्य और सार्वभौम में किसका चयन करें? अनित्य और सार्वभौम का आंतरिक सम्बन्ध क्या है? जब–जब इसके समन्वय और आंतरिक संगीत को मनुष्य सुनने में सक्षम हुआ है, वह चाहे भूमा की कृपा से या अपनी साधना से, तब–तब मानवता का श्रेष्ठतम् और शुभतम् पक्ष दर्शन, साहित्य, संगीत और कला के रूप में दुनिया को प्राप्त हुआ है। कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि ऐसे वक्त विश्व को सिर्फ दर्शन, साहित्य और कला तथा संगीत केवल ज्ञानात्मक चित्र ही नहीं प्राप्त हुआ है, अपितु मनुष्य के जीवन की परम क्रियात्मक पद्धति भी प्राप्त हुई है। श्रेष्ठ जीवन व्यवहार की प्रविधि–योगः कर्मसु कौशलम्। वह योग जिसमें जोड़ने को, संश्लेषण को कुछ भी बचा नहीं है, अर्थात् अब उसके प्रत्येक कर्म में श्रेष्ठतम् कौशल ही दिखाई पड़ेगा।

लगा के देख ले जो भी हिसाब आता हो
मुझे घटा के तू गिनती में रह नहीं सकता।

जब यही यात्रा पूरी होती है, इस भावातीत कौशल की प्राप्ति होती है, तब जीवन में सार्वभौमिकता की शीतल, उर्ध्वगामी, मुक्तिदायनी छांह का प्राकट्य होता है। यही सार्वभौमिकता व निरपेक्षता दर्शनशास्त्रियों का तत्वागाहन और तत्वविन्यास है, जिसकी नाद उपनिषदों पृष्ठ–दरपृष्ठ बजती है और साहित्य में सूफी का इश्क हकीकी बनता है तथा कला जो वाणीहीन और अभिव्यक्ति न होने का संकल्प लिए भी ब्रह्माण्ड के समस्त शब्दों और नादों को अपने भीतर लिए बैठी रहती है–उसका सौन्दर्यशास्त्र प्रकट होता है। यह सौन्दर्यशास्त्र वस्तुतः सार्वभौमिकता का ही हृदयस्पर्शी रेखांकन, चित्रांकन और दृश्यांकन है। यह सौन्दर्यशास्त्र वस्तुतः तत्व का ही मूर्त और अमूर्त स्वरूप है। शिव और सत्य जब अभिव्यक्तिहीन मौन और प्रशान्ति धारण करते हैं, तब सौन्दर्य का आलोक मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, प्रज्ञा और आत्मा को पुर्नजन्म प्रदान करते हैं और कला मुक्ति वाहिनी साधना का रूप ले लेती है। शंकराचार्य सौन्दर्य लहरी गाने लगते हैं और इमानुएलकांट 'क्रिटिक ऑफ जजमेन्ट' के प्रणयन में सुदूर यूरोप में मस्त हो जाते हैं।

कला जीवनदायनी, सत्स्वरूपा, आनंदप्रदायनी है। यह पूर्व जन्मों के आते हुए संस्कारों के साथ इस जन्म में भी बखूबी समझा श्रद्धेय डॉ. एस.बी.एल. सक्सेना ने और कर दिया खुद को रंगों के भीतर विहंसती महासत्ता के हवाले। महाविचार और अक्षुण्ण दैवीय सत्ता के प्रति विश्वास और श्रृद्धा तथा भौतिक प्लेन पर उसे अभिव्यक्त करने की उनकी दृढ़ इच्छा शक्ति और कर्म कौशल ने उन्हें गत साठ वर्षों में कला के चौदह भुवनों की यात्रा करायी है। यह यात्रा सफल, सार्थक और आदरास्पद है और जीवन में 75वें वर्ष में

* शोध–छात्रा, (चित्रकला), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

प्रवेश कर गयी। सफल ग्राहस्थ्य के बाद वानप्रस्थ का चिंतानात्मक, उदासीन सब में रहकर भी 'उसके' साथ–संग की अनुभूति डॉ. एस.बी.एल. सक्सेना को पूर्णतया एक योगी, चिंतक, दार्शनिक और सौन्दर्यशास्त्री बनाती है। जीवन भर भौतिकता की सौंपी जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वाह, उच्च शिक्षा के विविध आयामों में सार्थक पहल, शिष्यों को अपनी उड़ान का सफल सहयात्री बनाने की अदम्य जिजीविशा, सारल्य और प्रेम को सौन्दर्य का चश्मा समझने वाले डॉ. एस.बी.एल. सक्सेना स्वयं में ही सौन्दर्यशास्त्र के अनिवार्य पृष्ठ की भांति कला ग्रंथ में शामिल हो गये हैं। हो भी क्यों ना उन पर ईश्वर का प्रेम निछावर है, और वे उस प्रेम को सलीके से ग्रहण करने की कला और उसकी उपादेयता दोनों से सुविज्ञ है। तदुपरान्त इस निधि को लेकर जीवन और चिंतन में कैसे खर्चना है, सका उन्हें पूर्ण बोध है। यह इसलिए कह रही हूँ कि जब भी आप उनसे मिलते उनकी भीतर छायी शिवत्व की ऊर्जा आपको घेलेती और उनके सोच का सौन्दर्य सुन्दरम् की पीठ से सम्बद्ध दिखाई देगा। पृज्ञादृष्टि, सहजस्नेह, सुफियाना मस्ती और तौर तरीका यह मिलता और दिखता है डॉ. एस.बी.एल. सर में। लेकिन जब यह मिलता है तो आपको भीतर तक छेड़ता है। उनका माध्यम कला है, लेकिन सौन्दर्य का तत्वशास्त्र मानों उनके जीवन में ठहर कर उनसे यही कहलवाता है–

सकलापि कला कलावतां विकलां पुण्यकलां बिना खलु,
सकले नयने वृथा यथा तनुभाजां हि कलीनिकां बिन्म।

'जैसे शरीर धारियों के नेत्र पुतली के बिना व्यर्थ हैं, वैसे कलाविदों की सभी कलायें पुण्य–कला के बिना व्यर्थ हैं। यह पुण्य कला नैतिकता की कला है।'

जीवन को पल–पल, निमिश–निमिश भरपूर जिया है, सर ने। पूरी मस्ती गतिशीलता और सजग चिंतन के साथ। हमारा बरेली कालेज आज भी उनकी मधुर यादों को पलटता और संजोता रहता है। बरेली में कला शिक्षा के प्रचार–प्रसार के एक अग्रदूत हैं डॉ. सरल बिहारी लाल सक्सेना, खासकर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने कला के विभिन्न पहलुओं पर पतंक शोध कार्य करवाये जो महत्वपूर्ण सिद्ध हुये हैं। उनके छात्र उनके विद्यालयों में कला शिक्षक के रूप में कार्य कर रहे हैं। डॉ. सरन स्वयं भी कला दर्शन के विशेषज्ञ के रूप में जाने जाते हैं। उनका शोध कार्य भी बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। वे एक अत्यन्त उत्साही कला अध्यापक रहे हैं जिन्होंने अपने महाविद्यालय में कई बार उच्च कोटि की कार्यशाला में सेमिनार एवं कानफरेंसेज का महत्व पूर्ण समायोजन किया। वे कला पर अच्छे व्याख्यान देते रहे हैं और अनेक कला विभागों में परीक्षक के रूप में आमंत्रित किये जाते थे। वे जहां भी गये वहाँ छात्रों पर अच्छी छाप छोड़ी थीं। वे हमेशा अपने छात्रों को भी भरसक सहयोग देते रहते थे। उन्होंने कला पर अच्छी पुस्तकें भी लिखी हैं जिनसे कला छात्रों का बड़ा लाभ हुआ है। वे कला विभाग के विभागाध्यक्ष के रूप में अत्यन्त सफल रहे हैं।

उन्होंने अपने कला विभाग को उच्च स्तर पर पहुँचाया। डॉ. सरन स्वयं भी एक अच्छे चित्रकार थे। उनके माँ गंगा पर बनाये चित्रकाफी लोकप्रिय हुये हैं। उनके सभी समीक्षावादी चित्रों ने दर्शकों को बहुत प्रभावित किया है। वे जीवन भर कला के प्रचार–प्रसार में संलग्न रहे थे और एवं बेबाक कला समीक्षक भी थे। स्वभाव से वे थोड़ा तल्ख लगते थे, पर अन्दर से वे बड़े ही सहृदय, उदार और सहनुभूति पूर्ण थे। उनका जिस पर विश्वास हो जाता था उसके लिये वे जीवन भर श्रद्धा एवं सम्मान देते रहते थे।

सन्दर्भ

1. डॉ. शरण एवं सुधा, कला और समाज, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 1986
2. एक्सप्रेशन–ऐसेस इन दी ऑनर ऑफ प्रो. एस.बी.एल. सक्सेना, बरेली, 2014
3. डॉ. शरण, आधुनिकता एवं परम्परा, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2000
4. डॉ. ए.सी. त्रिपाठी, डॉ. शरण– कला प्रेरणता
5. डॉ. शरण, भारतीय चित्रकला में रस, दिल्ली, 2012

1857 की क्रान्ति से भारत छोड़ो आन्दोलन के मध्य भारतीय पत्रकारिता

रामरूप*

सन् 1857 ई. की क्रान्ति को भारतीय स्वाधीनता संग्राम का प्रथम संग्राम माना गया है। उस समय तक समाचार पत्रों का प्रचार कुछ विशेष रूप में नहीं हुआ था। भारत में सन् 1836 ई. में समाचारचन्द्रिका, समाचार दर्पण तथा ज्ञानेनेशुन आदि का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।[1] सन् 1857 ई. में ही हिन्दी के प्रथम दैनिक समाचार 'सुधावर्षण' और उर्दू फारसी के दो समाचारपत्रों 'दूरबीन' और 'सुलतान उल अखबार' प्रकाशित हुए।[2] पत्रकारिता को राष्ट्रीयता ने प्रवहन दिया तो पत्रकारिता ने भी राष्ट्रीयता के विकास की अनुकूल भूमि तैयार की।[3] सन् 1857 ई. की क्रांति से भारतीय प्रेस दो भागों में स्पष्टता से विभाजित हो गया था।[4] इस दौर का प्रमुख पत्र 'पयामें आजादी' था।

स्वतंत्रता संग्राम के विफल होते ही 'पयामें आजादी' पर कुठाराघात हुआ। बेदार खाँ को फाँसी की सजा दी गई और कहा जाता है कि जिन लोगों के घर में 'पयामें आजादी' की प्रतियाँ पाई गईं, उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया गया।[5] के संस्थापकों में महान सेनानी नाना साहब धोंडु पंत थे।[6]

'पयामें आजादी' के पश्चात् धर्मप्रकाश, सूरज प्रकाश, सर्वोपकारक, जगलाभ चिन्तक, प्रजा हित, ज्ञान प्रकाश, ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका, वृत्तांत विलास, रत्नप्रकाश आदि पत्र निकलने। 'धर्मप्रकाश' मासिक पत्र था। अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि 'इसे उसी प्रकार के पत्रों में स्थान मिलना चाहिए जो विशेष धर्म, सम्प्रदाय या जाति से सम्बन्ध रखते हों।' 'सूरज प्रकाश' आगरा से छनेयीलाल के संपादन में निकला। अजमेर से सोहनलाल के संपादन में जगलाभ चिंतक, इटावा से 'प्रजाहित' (मासिक), सिकन्दरा से 'ज्ञानदीप' प्रकाशित हुए। इसके पश्चात् 'लोकमित्र' (1863, मासिक), 'भारत खंडामृत' (आगरा, 1864), 'तत्वबोधिनी पत्रिका' (साप्ताहिक बरेली, 1865), 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (मासिक, लाहौर 1866) आदि पत्र प्रकाशित हुए।

'अमृत बाजार पत्रिका' का स्वतंत्रता संग्राम में अपना विशेष योगदान रहा। इस पत्र को दबाने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा अनेक प्रयास किए गए। इस पत्र के सम्पादक शिशिर कुमार घोष और मोतीलाल घोष ने अमृत बाजार पत्रिका के माध्यम से जनजागरण का कार्य किया। सन् 1849 ई. में पूना से 'ज्ञान प्रकाश' का प्रकाशन हुआ था। कुछ दिनों बाद इस पत्र के सम्पादक श्रीकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर के पुत्र विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और श्री बाल गंगाधर तिलक ने मिलकर 1 जनवरी, 1881 ई. से मराठी में 'केसरी' और अंग्रेजी में 'मराठा', नामक दो साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किये। डकेन स्टार नामक अंग्रेजी पत्र के सम्पादक राम जोशी भी इसमें आ गए ओर यह पत्र 'मराठा' में मिला लिया गया।

स्वतंत्रता संग्राम के आरम्भिक वर्षों में महामना मदनमोहन मालवीय ने 'दैनिक हिन्दोस्थान' का सम्पादन किया और 'अभ्युदय' नामक साप्ताहिक तथा दैनिक पत्र भी प्रकाशित किया जिनकी प्रेरणा से अनेक पत्रों ने जन्म लिया और स्वतंत्रता की महत्वपूर्ण लड़ाई में अपनी अहम् भूमिका निभाई। 'नवजीवन', 'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'यंग इण्डिया' और 'हरिजन बन्धु' जैसे पत्र भी इसी बीच प्रकाश में आए।

'युगांतर' के पश्चात् भारत में 'वन्देमातरम' पत्र ने राष्ट्रीय आंदोलन में बड़ी भूमिका निभायी। इसकी स्थापना श्री सुबोध चन्द्र मलिक, देशबन्धु चितरंजन दास और श्री बिपिनचन्द्र पाल ने 6 अगस्त, 1906 ई. को श्री अरविन्द घोष के सम्पादकत्व में की थी।

---

* शोध छात्र (हिन्दी), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

इस पत्र से भी अधिक महत्वपूर्ण यह हुआ कि श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जो अन्य मित्र थे जैसे कानपुर में श्री प्रतापनारायण मिश्र तथा इलाहाबाद में पंडित बालकृष्ण भट्ट, उन्होंने दो बड़े राजनीतिक पत्र निकाले जिनका बहुत असरदार प्रभाव हुआ। इलाहाबाद से श्री बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' निकला जो सन् 1910 ई. में 'प्रेस एक्ट' के अन्तर्गत बन्द कर दिया गया।

कानपुर में ''ब्राह्मण'' समाचार पत्र में राष्ट्रीय पत्रों की परम्परा को जन्म दिया। लाहौर से श्री मुकुन्दराम के सम्पादकत्व में 'ज्ञान प्रदायिनी' पत्रिका निकली। सन 1885 में कालाकांकर से राजा रामपाल सिंह ने 'हिन्दोस्थान' पत्र निकाला, जिसके प्रथम सम्पादक मदनमोहन मालवीय थे। वे श्री बालकृष्ण भट्ट की परम्परा के थे और उन्होंने न केवल 'हिन्दोस्थान' के द्वारा बल्कि बाद में अन्य पत्रों के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को प्रोत्साहित किया।

कलकत्ता में हिन्दी के अनेक पत्र प्रकाशित हुए जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के समय अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'स्वतंत्र' नामक पत्र श्री अम्बिका प्रसाद बाजपेयी द्वारा प्रारंभ किया गया। हास्य का पत्र 'मतवाला' था। बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में 'विशाल भारत' निकला, जिसने न केवल विदेशों में रहने वाले भारतीयों की दुर्गति की ओर ध्यान दिलाया बल्कि संसार की प्रगतिशील विचारधारा से हिन्दी जगत को पारिचित कराया। पंडित सुन्दरलाल ने इलाहाबाद से 'कर्मयोगी' साप्ताहिक निकाला जो उग्र विचारधारा का पत्र था। सुन्दरलाल जी की प्रेरणा और सहयोग से शिवनारायण भटनागर ने उर्दू का 'स्वराज्य' पत्र निकाला जिसके नौ सम्पादकों को राजद्रोह के अन्तर्गत सजा हुई और एक के बाद एक जेल भेजे गये।[7] कई लोगों को काले पानी की सजा हुई। बाद में 1910 के प्रेस कानूनों के अन्तर्गत यह भी बन्द हो गया। श्री सुन्दरलाल ने साप्ताहिक 'भविश्य' नामक भी निकाल। इसके द्वारा उन्होंने राजनीतिक विचारधारा के प्रसार में बड़ा योगदान दिया।

सन् 1920 ई. में श्री शिवप्रसाद गुप्त ने श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के सम्पादकत्व में 'आज' नामक पत्र उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय समाचारों और विचारों का प्रबल समर्थक रहा। इसी प्रकार आगरा से पंडित कृष्णदत्त पालीवाल का 'सैनिक' पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्रबल राष्ट्रीय पत्र हो गया। इन पत्रों– 'प्रताप, 'आज', 'अभ्युदय' या 'सैनिक' प्रत्येक को स्वाधीनता आंदोलन में बन्द होना पड़ता था और उसके सम्पादक और प्रकाशक जेल भेज दिये जाते थे।[8]

लाहौर में खुशहाल चन्द खुरसंद ने 'मिलाप' और महाशय कृष्ण ने उर्दू पत्रों का प्रकाशन किया। शीतलकांत चटर्जी के सम्पादकत्व में अंग्रेजी समाचार पत्र 'ट्रिब्यून' का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

'सैनिक' प्रधानतः राजनीतिक पत्र था किनतु उसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के लिए भी पूर्ण स्थान था। 'सैनिक' की छवि एक निर्भीक समाचार पत्र की थी। 1931 ई. तक यह पत्र साप्ताहिक के तौर पर निकलता रहा, उसके पश्चात् इसका स्वरूप दैनिक पत्र का हो गया। किन्तु सरकार द्वारा जमानत मांगे जाने पर इसका प्रकाशन कुछ समय के लिए बंद हो गया। यह समाचार पत्र सैनिक प्रेस आगरा से प्रकाशित होता था। भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार के प्रकाशित साक्ष्यों से पता चलता है कि 'सैनिक' साप्ताहिक पत्र के 8 फरवरी 1928 के अंक को अंग्रेजी सरकार ने जब्त कर लिया था। प्रतिबंधित अंक की प्रति उपलब्ध न होने के फलस्वरूप उसकी विस्तृत चर्चा कर पाना संभव नहीं है। 'सैनिक' पत्र की स्वाधीनता–आंदोलन में सक्रिय भागीदारी रही। स्वदेशी आंदोलन को उसने अपने अंकों में पर्याप्त स्थान प्रदान किया।

'सैनिक' ने अपने 29 दिसम्बर 1930 के अंक में देशवासियों को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के लिए आवाहित करते हुए लिखा– 'केवल विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार ही वह अस्त्र है, जिससे हम अपने शत्रु के पेट पर चोट पर सकते हैं।[9] 'सैनिक' ने सविनय अवज्ञा आंदोलन के अन्य कार्यक्रमों के बारे में

लिखना जारी रखा। 6 जनवरी और 13 जनवरी 1931 के अंकों में ऐसे कई लेख और टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं, जिनको आधार बनाकर 'सैनिक' से पुनः जमानत मांगी गई।[10] इस बार 'सैनिक' पत्र और इसके मुद्रक आदर्श प्रेस आगरा से भी 4 फरवरी 1931 को दो–दो हजार रूपए की जमानत मांगी गई।[11] फलस्वरूप पत्र और प्रेस ने जमानत की राशि जमा न कर पाने के कारण पुनः 'सैनिक' का प्रकाशन बंद कर दिया।

भारत का कोई प्रांत ऐसा नहीं था जिसने राश्ट्रीयता का प्रचार करने वाले पत्रों और पत्रकारों को जन्म न दिया हो। बम्बई से 'बाम्बे क्रोनिकल' तो निकला ही, उसके ही एक सम्पादक बी.जी. होर्नीमैन, ने 'बाम्बे क्रोनिकल' को उग्र राष्ट्रीयता का एक प्रबल पत्र बना दिया तथा 'बोम्बे सेंटीनल' निकाला।

बिहार के राष्ट्रीय पत्रों में सच्चिदानंद सिन्हा द्वारा स्थापित 'सर्चलाइट' पत्र मुरली मनोहर सिन्हा के सम्पादकत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का बड़ा पक्षधर रहा। बिहार के हिन्दी पत्रों में देवव्रत शास्त्री द्वारा स्थापित 'नवशक्ति' और 'राष्ट्रवाणी' राष्ट्रीय आन्दोलन के पत्र रहे। 'साप्ताहिक योगी' और 'हुंकार' ने भी जनजागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बंगाल में श्री हेमंत प्रसाद घोश ने 1914 में 'बसुमती' की स्थापना की थी और मृणाल कांति घोष, श्री प्रफुल्लकुमार सरकार व सुरेशचन्द्र मजूमदार ने 'आनंद बाजार पत्रिका', की स्थापना की। 'आनन्द बाजार' पत्रिका आज भी बंगला भाषा का लोकप्रिय और सबसे बड़ा समाचार पत्र है। श्री चितरंजनदास ने 1923 में 'फारवर्ड' पत्र निकाला था और इन समाचार पत्रों का राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा योगदान रहा। मद्रास में एनी बेसेंट ने 'मद्रास स्टेंडर्ड' पत्र को खरीद कर उसका नाम 'न्यू इंडिया' कर दिया और 14 जुलाई 1914 से अपने सम्पादकत्व में उसे निकालना प्रारम्भ किया। यह पत्र भी दक्षिण भारत में होमरूल आन्दोलन और कांग्रेस आन्दोलन का प्रबल पक्षधर था। इस पत्र के विरूद्ध कार्यवाही शुरू की गयी, पहले दो हजार रूपये की और फिर दस हजार रूपये की जमानत मांगी गयी और एनी बेसेंट को नजर बन्द कर दिया गया।[12]

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी 'क्रांति' साम्यवादी मासिक पत्रिका के संपादक राजाराम शास्त्री थे। 'क्रांति' पत्रिका नेशनल प्रेस, कानपुर द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित होती थी। भारतयी स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम दौर में इस पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 'क्रांति' पत्रिका के मुखपृष्ठ पर लेनिन का वाक्य 'क्रांति ही आजादी का सच्चा मार्ग है' उसकी क्रांतिकारिता का परिचय कराता है। उसकी क्रांतिकारिता एवं उग्र विचारों का ही परिणाम था कि अंग्रेजी सरकार ने 'क्रांति' के लगातार दो अंकों पर प्रतिबंध लगाया जिसमें सितंबर 1939 एवं अक्टूबर 1939 के अंक शामिल हैं। ये दोनों ही अंक भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में मौजूद हैं।[13] 'क्रांति' ने अपने लेख, कविताओं एवं कहानियों के माध्यम से संपूर्ण उत्तर प्रदेश की जनता में एक नई चेतना का संचार किया।

'पिप्लव' 1938 ई. में प्रकाशित हुआ। इसका उर्दू संस्करण भी निकला था। 'विप्लव' का फरवरी 1939 का अंक 'चंद्रशेखर आजाद अंक' था, जो क्रांति–गाथाओं से भरा हुआ था। अपने उग्र विचारों के कारण 'विप्लव' को अंग्रेजी सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा। सरकार द्वारा अप्रैल 1939 का अंक प्रतिबंधित कर दिया गया जिसकी एक प्रति भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में सुरक्षित है। वस्तुतः 'विप्लव' वामपंथी रूझान का पत्र था।

अप्रैल 1940 तक मासिक पत्र 'विप्लव' सफलतापूर्वक प्रकाशित हेाता रहा, किंतु आगे चलकर अंग्रेजी सरकार ने इसके प्रकाशन में अनेक अड़चनें पैदा कर दीं। सरकारी वज्रपात अत्यधिक होने पर यह पत्र बंद हो गया। इसके स्थान पर 'विप्लवी ट्रेक्ट' का प्रकाशन शुरू किया गया। 'विप्लवी ट्रेक्ट' प्रसिद्ध क्रांतिकारी यशपाल के 'विप्लव' पत्र का परिवर्तित रूप था, जो जून 1940 में प्रकाशित हुआ था। 'विप्लव' से

मई 1940 में सरकार द्वारा बारह हजार रूपए की जमानत मांगी गई थी। फलस्वरूप उक्त पत्र का प्रकाशन स्थगित कर 'विप्लवी ट्रेक्ट' प्रकाशित किया गया था।[14]

क्रिप्स– योजना की असफलता और उसके संदर्भ में कांग्रेस को आरोपित करने से देश का राजनैतिक वातावरण पुनः नैराष्यपूर्ण हो गया। इससे गांधी जी के विचारों में व्यापक परिवर्तन हुआ और उन्होंने 'भारत छोड़ो आंदोलन' का विचार सामने रखा। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकृत होने के साथ ही ब्रिटिश सरकार की कांग्रेस और भावी आंदोलन के दमन के निश्चय के परिप्रेक्ष्य में ही पत्र–पत्रिकाओं की शेष बची आजादी के दमन की योजना भी बन चुकी थी। ब्रिटिश सरकार पूर्ववर्ती आंदोलनों में पत्र–पत्रिकाओं की शक्ति को पहचान चुकी थी और उसकी शक्ति से भयभीत थी। इसकी पुष्टि 31 जुलाई 1942 के भारत सरकार के मुख्य प्रेस–सलाहकार के 'गोपनीय मेमोरंडम' से होती है, जिसमें समाचार पत्रों और समाचार–एजेंसियों को चेतावनीपूर्ण स्वर में सलाह दी थी कि वे आंदोलन का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करने वाले लेखवक्तव्यों के प्रचार–प्रसार से विरत हों।[15]

8 अगस्त 1942 को ब्रिटिश सरकार ने आज्ञापूर्वक मुद्रक, प्रकाशक या संपादक द्वारा ऐसे समाचारों के प्रकाशन पर रोक लगा दी, जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा स्वीकार किये गए जनान्दोलन के विरूद्ध सरकार द्वारा की गई कार्यवाहियों के बारे में हो। यह सरकारी आज्ञा स्पष्ट रूप से कांग्रेस के भावी आंदोलन के दमन के लिए निकाली गई थी। इसके साथ ही महात्मा गांधी के भाषणों को प्रकाशित करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।[16] 13 अगस्त 1942 के ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार 'भारत रक्षा कानून' की धाराओं के तहत आंदोलन–सम्बंधी प्रकाशनों की जब्ती का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को प्रदान कर दिया गया।[17] दमनचक्र की इस प्रक्रिया में बाद में समाचार पत्रों में आंदोलन संबंधी फोटो, चित्र, रिपोर्ट्स आदि के प्रकाशन पर भी रोक लगा दी गई।[18] भूमिगत एवं अनाधिकृत पत्रों के प्रकाशन पर पूर्णतः प्रतिबंध लगा दिया चरित्र राष्ट्रीयता एवं साम्प्रदायिक एकता से परिपूर्ण था।

सन्दर्भ

1. डॉ. संतोष भदौरिया, शब्द प्रतिबन्ध, पृ. 31–32 ।
2. वही।
3. डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ. 48 ।
4. डॉ. संतोश भदौरिया, पूर्वोक्त, पृ. 29 ।
5. प्रेमनारायण, प्रेस एण्ड पोलिटिक्स इन इण्डिया (1885–1905) पृ. 4 ।
6. डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्रा, पूर्वोक्त, पृ. 48 ।
7. डॉ. संतोष भदौरिया, पूर्वोक्त, पृ. 111 ।
8. होम पोलिटिकल, फाईल–3391 / 18–1684 / 1931 भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नयी दिल्ली।
9. 4 फरवरी 1931 का पत्र उ.प्र. अभिलेखागार, लखनऊ।
10. डॉ. संतोष भदौरिया, पूर्वोक्त, पृ. 130 ।
11. न्यू इण्डिया, 15 जुलाई, 1914 ।
12. होम पॉलिटिकल फाईल 37 / 34 / 1939, प्र. 9, सीरियल नं. 5, भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, दिल्ली।
13. रामरतन भटनागर, दि राइज एंड ग्रोथ ऑफ हिंदी जर्नलिज्म, पृ. 459।
14. होम पौलिटिकल, फाईल 3 / 13 / 42 पार्ट–1, पृ. 28 ।
15. दि गजेट ऑफ इंडिया एक्स्ट्रा आर्डिनरी, 8 अगसत 1942 (गृह विभाग)।
16. होम पॉलिटिकल (आई) फाईल 3 / 13 / 42 (गृह विभाग)
17. वही।
18. वही।

मुगल चित्रकला की विषय–वस्तु

लता मिश्रा* एवं डॉ. सुनील कुमार सक्सेना**

सर्वप्रथम बाबर भारतवर्ष में एक आक्रान्ता के रूप में आया। उसने अपनी सैन्य कुशलता तथा तोपखाने के कारण भारत की शासन सत्ता को अपने हाथ में ले लिया। बाबर का नाम जहीरउद्दीन मोहम्मद था और उसके पिता का नाम उमरशेख था। उमरशेख फरगना प्रान्त का शासक था। बाबर ग्यारह वर्ष की आयु में पैतृक रूप से इस छोटे से फरगना राज्य का उत्तराधिकारी बना। 1511 ई. में 28 वर्ष में उसको समरकंद का यह राज्य छोड़कर भागना पड़ा परन्तु इससे सात वर्श पूर्व ही वह काबुल पर अधिकर स्थापित कर चुका था।[1] 1505 ई. में बाबर ने गजनी पर भी अधिकार स्थापित कर लिया था और उसने सिंधु पर आक्रमण किया, परन्तु 1516 ई. तक वह सिन्धु को पार न कर सका। सन।

1524 ई. में दौलत खाँ और आलम खाँ, जो दिल्ली के सुल्तान अब्राहीम लोदी के चाचा थे, ने बाबर को लाहौर पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया, परन्तु उसको इस बार पुनः सैन्य संगठन करने के लिए काबुल लौटना पड़ा और 1525 ई. में ही बाबर को सफलता प्राप्त हो सकी।[2]

पानीपत के युद्ध के पश्चात् बाबर को अप्रैल 1526 ई. में विजय प्राप्त हुई और वह दिल्ली का शासक बन गया।[3] इस प्रकार बाबर के द्वारा ही भारत में मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी और इस वंश की मुगल संस्कृति तथा सभ्यता का भारत में सूत्रपात हुआ। बाबर पैतृक सम्बन्ध में तैमूर, स मातृ सम्बन्ध में चंगेज वंश से सम्बन्धित था। बाबर की माता–मही चंगेजवंशीय मंगोल जाति की महिला थीं, इस वंश का नाम इस महिला के मंगोलवंशीय होने के कारण ही, साम्राज्य का नाम 'मुगल–साम्राज्य' पड़ा।

मुगल शासकों ने भारतवर्ष में राज्य विस्तार के साथ ही सुव्यवस्था स्थापित की और देश में शान्ति तथा समृद्धि बढ़ने लगी। मुगल सम्राटों को अपने वंशजों के समान ही चित्रकला, उद्यान तथा स्थापत्य कला में अधिक रूचि थी।[4] मुगल शहजादों तथा सामन्तों की अपनी–अपनी चित्रशालाएँ होती थीं। बादशाह तथा शहजादे स्वयं भी चित्रकला का अभ्यास करते थे। सम्राट प्रायः उच्च पदाधिकारियों, सभासदों तथा सामन्तों को अपने शबीहचित्र भेंट स्वरूप प्रदान करता था।

मुगल साम्राज्य तथा शासकों के साथ–साथ मुगल कला का उत्तरोत्तर विकास हुआ और राजकुमारों, दरबारियों तथा सरदारों ने इस चित्रकला को पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया, किन्तु औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति के कारण मुगल साम्राज्य का ही पतन नहीं हुआ वरन् चित्रकला का वातावरण भी समाप्त हो गया।

मुगल साम्राज्य भव्यता, ऐश्वर्य और राजसी वैभव के साथ उदित हुआ उसी प्रकार मुगल चित्र–शैली ने भी अपनी भव्य विशेषताओं के कारण भारतीय चित्रकला की शैलियों में अपना पृथक महत्व तथा स्थान ग्रहण कर लिया। मुगलों में चित्रकला धर्म निशिद्ध है, परन्तु फारस के तुर्क बादशाहों ने अपनी कला–प्रियता का परिचय दिया और ईरान से उन्होंने कला प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रकार ईरानी कला भारत की कला बन गई।[5]

फारस की चित्रकला वास्तव में लघुचित्रों और पोथियों की चित्रकला थी।[6] कवियों की रचनाएँ,

* शोध छात्रा, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

** विभागाध्यक्ष, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुना, मध्य प्रदेश

दरबार की झाँकियाँ, शहजादों तथा बादशाहों की शबीहों, लड़ाइयों तथा प्रीतिभोजों के दृश्य इस चित्रशैली के प्रिय विशय थे, परन्तु चित्रकला धर्म निषिद्ध होने के कारण कभी धर्म के क्षेत्र में पदार्पण न कर सकी। सोलहवीं शताब्दी में जब फारस की चित्रकला भारतीय मुगल सम्राटों के संरक्षण में भारतीय कला की विशेषताओं को ग्रहण कर गई तो उसमें अनेक नवीन विशेषताएँ प्रस्फुटित होने लगीं और यह मुगल चित्रकला भारत की एक विशिष्ट चित्र–शैली बन गई।

जिस प्रकार भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश रहा है उसी प्रकार चित्रकला भी कई शताब्दियों तक धर्म प्रधान बनी रही। अजन्ता की चित्रकारी, पाल तथा जैन शैली के पोथी चित्र और राजस्थानी शैली की कृतियाँ विशेष रूप से धर्म से सम्बन्धित थीं और चित्रकला धर्म का एक अंग बनी रही।[7] इस्लाम धर्म में चित्रकला धर्म निषिद्ध थी और क्योंकि मुसलमानों की ऐसी धारणा है कि किसी व्यक्ति की आकृति अथवा चित्र बनाने पर उसमें जान डालना चाहिए अन्यथा वह पाप है। इस कारण ही इस्लाम धर्म की जन्मभूमि अरब में जो मस्जिदें बनवाई हैं उनमें अलंकरण हेतु ज्यामितिक आकारों के आलेखनों तथा कुफिया सुलिपि (खते तौहरा) का ही केवल प्रयोग किया गया है। धीरे–धीरे ज्यामितिक आलेखनों का स्थान अंगूर की बेल तथा तितली आदि ने ले लिया, परन्तु भारत में मुगल शासकों ने अधिक उदारता दिखाई।[8] इस उदारता के उपरान्त भी चित्रकला को धार्मिक स्थान प्राप्त नहीं हुआ, इसी कारण मुगल कृतियों में आध्यात्मिक–पक्ष प्रबल न हो सका। मुगल चित्रकार बाह्य वैभव–रूप तथा सांसारिक उपकरणों तक सीमित रह गया। यद्यपि शबीह लिखते समय चित्रकार ने व्यक्ति के चरित्र को सच्चाई के साथ अंकित कर दिया हे, परन्तु आत्मा का पक्ष कलाकार की कृतियों में नहीं आ सका। चित्रकार बादशाह के चारों ओर के जीवन तक या दरबारी इतिहास तक सीमित रहा और जनसाधारण की ओर उसकी दृष्टि न जा सकी।

सन्दर्भ

1. डॉ. अशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारत, पृ. 71।
2. वही।
3. वही।
4. बाबरनामा, अनु. बैवरीज, पृ. 307।
5. डॉ. किश्वर जैदी, मुगल चित्रकला के चित्रों की विषयवस्तु के आधीन वर्गीकरण एवं विश्लेषता, पृ. 119 ।
6. डॉ. अविनाश बहादुर वर्मा, भारतीय चित्रकला का इतिहास, पृ. 127 ।
7. डॉ. एस.बी.एल. सक्सेना एवं डॉ. आनन्द लखटकिया, भारतीय चित्रकला परम्परा और आधुनिकता का अन्तर्द्वन्छ, पृ. 7 ।
8. डॉ. किश्वर जैदी, पूर्वोक्त, पृ. 21 ।

स्वामी विवेकानन्द : हिन्दू धर्म पुर्नुद्धार विचार

डॉ. नीत बिहारी लाल *

स्वामी विवेकानन्द ने भारत में हिन्दू धर्म का पुनरूद्धार तथा विदेशों में सनातन सत्यों का प्रचार किया। इस कारण वे प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों में सर्वत्र समाज रूप से श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 ई. सोमवार, पौष कृष्ण सप्तमी तिथि के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के किंचित काल बाद 6 बजकर 46 मिनट पर कलकत्ता के सिमलिया मुहल्ले में अधिवक्ता विश्वनाथ दत्त और माता भुवनेश्वरी देवी की प्रथम पुत्र सन्तान के रूप में जो शिशु जन्म उसे देखकर, उस समय कौन सोच पाया होगा कि भविष्य में जन्म के मात्र 39 वर्ष 6 माह के जीवन में एक ऐसी आश्चर्य जनक प्रतिभा का ऐसी महान शक्ति का –विकास होगा, जिसका प्रभाव देशकाल की मर्यादा के भीतर सीमावद्ध नहीं रहेगा।

ऐसी प्रतिभा जो भिन्न–भिन्न समय के भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में पले नर–नारियों के प्राणों में मानव आत्मा की शाश्वत महिमा, सत्य न्याय मैत्री की सजीव प्रेरणा एवं निर्भय हो लोक कल्याण करने की स्फूर्ति जगाती रहेगी। यह कमनीय कान्ति देव शिशु जब धीरे–धीरे एक प्रिय दर्शन परन्तु तेजस्वी प्रतिभाशाली, शौर्य वीर्य–पराक्रम से पूर्ण एक नव युवक में परिणत हुआ, तब भी कोई सोच नहीं सका था कि यह नरेन्द्र नाथ दत्त, विश्व वरेण्य ''स्वामी विवेकानन्द'' बनेगा।[1]

बालक नरेन्द्र साधक दुर्गाचरण के पौत्र थे और दुर्गाचरण कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के नामी वकील राममोहन दत्त के सुपुत्र थे। बालक नरेन्द्र के दो अन्य भाई महेन्द्र नाथ दत्त और भूपेन्द्र नाथ दत्त थे। स्वामी विवेकानन्द की बड़ी बहन का नाम स्वर्णमयी देवी था। इनके अतिरिक्त तीन बहनें थी।[2]

नरेन्द्र एक मधुर, प्रफुल्ल एवं चंचल बालक के रूप में बड़ा होने लगा। उसकी अदम्य शक्ति को वश में लाने के लिये दो नौकरानियों की आवश्यकता होती थी। नरेन्द्र एक नटखट एवं शरारती लड़का था जोप्रायः मचल उठता था। वह अपनी बहनों को परेशान किया करता और जब वे उसे पकड़ने दौड़ती तो वह खुली नाली में उतर पड़ता है और शैतानी से मुस्कराता तथा उनकी ओर मुँह बनाता क्योंकि वह जानता था कि वे उसे नाली में नहीं पकड़ेगी।[3] उसे शान्त करने का अन्य कोई उपाय न देख, उसकी माँ ''शिव–शिव'', कहते हुए उसके सिर पर जल डालने लगती थी। इससे वह हर बार शान्त हो जाता था।[4] बाल्यावस्था में नरेन्द्रनाथ एक चंचल प्रकृति के विनोद प्रिय बालक थे। पर आध्यात्मिक विषयों के प्रति उसका अद्भुत आकर्षण था। राम–सीता, शिव आदि देव विग्रहों पर ध्यान केन्द्रित करने का खेल वे प्रायः खेला करते थे। माँ द्वारा सुनाई गई रामायण और महाभारत की कहानियों ने उन पर अभिन्न छाप डाली थी। साहस, परदुःख कातरता और भ्रमणशील सन्यासी जीवन के प्रति तीव्र आकर्षण उनका सहज स्वभाव था।[5]

1876 ई. में नरेन्द्र ने कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कालेज में दाखिला लिया। फिर एक वर्ष बाद जनरल एसेम्बलीज इन्स्टीट्यूशन में दाखिला लिया। इसी कॉलेज के प्राचार्य तथा अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक

* इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय बिलासपुर (रामपुर) उ.प्र.

हेस्टी साहब केही मुख्य से सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण का नाम सुना था।[6]

सन् 1881 में नरेन्द्र नाथ जनरल एसेम्बली इन्स्टीट्यूट छात्र थे। एक दिन प्राध्यापक हेस्टी ने नई संदर्भ कविता ''भ्रमण'' (दि एक्सकर्शन) में समाधि के सन्दर्भ को समझाते हुए कहा था, ''जब विशुद्ध मन किसी विषय विशेष पर एकाग्र होता है तब ऐसे अनुभव होते हैं। इस प्रकार के अनुभव आधुनिक युग में विरल है। मैंने केवल एक ही व्यक्ति को देखा है जिसने इस दिव्य आनन्दपूर्ण मानसिक अवस्था का अनुभव किया है और वे हैं दक्षिणेश्वर के श्री रामकृष्ण परमहंस। यदि तुम स्वयं वहाँ जाकर उन्हें देखो तो इसे समझ सकोगे।[7]

नरेन्द्र बचपन से ही भय अथवा अंधविश्वास को नहीं मानते थे। नरेन्द्र प्रायः अपने पड़ोसी के घर चम्पा के पेड़ पर चढ़कर फूल तोड़ते, उधम मचाते और उल्टा लटका करते थे। पेड़ के मालिक ने नरेन्द्र के साथियों से अत्यन्त गंभीरता पूर्वक कहा कि उस पेड़ पर बृह्म दैत्य रहता है और उस पर उधम मचाने वालों की गरदन मरोड़ कर रख देता है। नरेन्द्र फिर भी टहनी पर चढ़ गए मन ही मन सोचने लगे ''बृह्म राक्षस महोदय को एक बार देखूँ तो।'' अपने साथी ने कहा तू भी निपट मूर्ख ठहरा। देखो मेरी गरदन कैसी सही सलामत है। दूसरे लोग जो कुछ भी कहते हैं, उसकी जांच किए बिना कभी विश्वास न करना। इस प्रकार नरेन्द्र यथार्थवादी थे न कि रूढ़िवादी।[8]

सोलह वर्ष की आयु में अपने अग्रज के साथ रहने को वे कलकत्ता आये पर यहाँ भी विद्योपार्जन में उनका मन नहीं रमा। वे ईश्वर दर्शन के लिए तीव्र व्याकुलता का अनुभव करने लगे। वर्षों काली माँ की पूजा अर्चना करने के बाद उन्हें माँ जगदम्बा ने दर्शन दिए। वे खुली और बन्द आंखों से भी मां का निरन्तर दर्शन करने को लालायित थे। अतः वे विविध प्रकार की कठोर साधनाओं में डूब गये। अपनी उच्च जाति का अहंकार निर्मूल करने के लिए वे चोरी–छिपे भंगी का शौचाललय साफ कर आते थे। वर्षों तक माँ के दर्शन हेतु सोते समय भी उनकी पलकें न झपकीं और अन्त में उन्हें, पागल करार दिया गया।

विवेकानन्द ने भारत में व्याप्त अस्पृश्यता और रूढिवादिता पर कटु प्रहार किया। रूढ़िवाद को उन्होंने ''रसोईधर्म'' और ''अस्पृश्यवाद'' कहकर उसकी भर्त्सना की।[9]

समाज के सभी वर्गों के लोगों को उठाना होगा, इन्हें अभयवाणी सुनानी होगी, बतलाना होगा कि तुम भी हमारे समान मनुष्य हो तुम्हारा भी हमारे समान सब में अधिकार है।[10]

सन् 1888 में नरेन्द्र नाथ जब पहली बार अपनी अस्थायी तीर्थ यात्रा पर निकले तथा 1890 में जब वे अपने गुरू भाईयों से विदा लेकर एक अज्ञात परिब्राजक सन्यासी के रूप में भ्रमण करने के लिए निकले, तब तक उनके दृष्टिकोण में एक विलक्षण परिवर्तन आ गया था। भारत की विशालता में अपने को विलीन कर देने की इच्छा से अपना परिचय गोपनीय रखने के उद्देश्य से उन्होंने विविदिशानन्द एवं सच्चिदानन्द नामों का उपयोग किया।[11]

भारत के अन्तिम शिला खण्ड पर बैठे स्वामी विवेकानन्द अपने देश के वर्तमान तथा भविष्य के ध्यान में मग्न हो गये। उन्होंने भारत के पतन के कारण को ढूँढा तथा मंत्र दृष्टा की अन्तदृष्टि से उन्होनें उन्नति के शिखर से पतन के गर्त में भारत कैसे गिरा यह देख लिया। एक सरल सन्यासी अब एक महान सुधारक, संगठक तथा राष्ट्र निर्माण में परिवर्तित हो गया था।[12]

स्वामी विवेकानन्द औपनिवेशित भारत में पहले विचारक थे, कि जिन्होंने भारत में स्वतन्त्रता की महत्ता को रेखांकित किया। उनका मानना था कि किसी भी राष्ट्र का विकास राजनैतिक स्वतन्त्रता के बिना सम्भव नहीं है।

संदर्भ

1. स्वामी मुमुक्षानन्द, विवेकानन्द एक सचित्र जीवनी, पृष्ठ–03
2. स्वामी निखिलानन्द, विवेकानन्द एक जीवनी, पृष्ठ–01
3. वही।
4. स्वामी अपूर्वानन्द, स्वामी विवेकानन्द संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश, पृष्ठ–46
5. स्वामी निखिलानन्द, पूर्वोक्त, पृष्ठ–03
6. स्वामी मुमुक्षानन्द, पूर्वोक्त, पृष्ठ–12
7. स्वामी निखिलानन्द, पूर्वोक्त, पृष्ठ–03
8. स्वामी मुमुक्षानन्द,विवेकानन्द एक सचित्र जीवनी, पृष्ठ–09
9. वही, पृष्ठ–11
10. स्वामी निखिलानन्द, पूर्वोक्त, पृष्ठ–03
11. वही, पृष्ठ–06
12. वही, पृष्ठ–12

ब्रिटिश कालीन ग्वालियर का आर्थिक स्वरूप

प्रो. के. रतमन्*

भारत सदैव से ही कृषि प्रधान आर्थिक पृष्ठभूमि का रहा है। यद्यपि उत्तर मध्यकाल में भारत में अनेकों देशी रियासतें थी, परन्तु वे सभी आर्थिक रूप से कृषि पर ही आधारित थी। अतः किसी भी राज्य की आय का सबसे बड़ा स्त्रोत था। ब्रिटिश कालीन ग्वालियर राज्य भी पूर्ण रूप से राजस्व की दृष्टि से कृषि पर ही आधारित था। कृषि के अतिरिक्त ग्वालियर राज्य में पशुपालन भी एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था।

ग्वालियर के प्रारंभिक सिंधिया शासक अधिकांश समय राज्य के स्थायित्व एवं सुरक्षा में संलग्न रहे। इस कारण वे प्रशासनिक कार्यों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दे सके। महाराज माधवराव सिंधिया के शासन काल में युद्ध कम हुए एवं प्रशासनिक व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया गया। महाराज चाहते थे कि राज्य में खुशहाली आये तथा उनका सोच भी था कि जब तक राज्य का अन्नदाता सम्पन्न नहीं होगा तब तक राज्य के खुशहाल नहीं होगी इसके लिये महाराज ने अथक प्रयास किये। उन्होंने कृषि पर सबसे अधिक ध्यान दिया। कृषि क्षेत्र का अध्ययन करवाया उसकी रिपोर्ट बनवाई। इसके उपरान्त महाराज ने स्वयं हर जिले का भ्रमण करके वैज्ञानिक आधार पर कृषि कार्य योजना तैयार कराई। उन्होंने कृषि में प्रगति न होने के कारणों पर विचार किया एवं उसका विस्तृत रूप से अध्ययन करवाया तथा किसानों को कृषि में उन्नति हेतु साधन उपलब्ध कराये एवं कृषि कार्य में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किये।

सन् 1916 में ग्वालियर राज्य के क्षेत्र में आधुनिक तरीकों को प्रयोग में लाया गया जिसकी प्रशंसा मध्यभारत प्रान्तों के कृषि सलाहकार वी. केविन्ट्री ने की।[1]

ग्वालियर में सन 1916 में कृषि विभाग की स्थापना की गयी। राज्य में नवीनतम् कृषि प्रयोगों हेतु हर जिले में एक जिलेदार की नियुक्ति की।[2] किसानों को उन्नतिशील बनाना, उन्नत बीज का चयन खाद का प्रयोग, बुबाई का समय एवं फसलों के लिये उपयोगी भूमिका चयन आदि के बारे में कृषक को सहयोग प्रदान करना। तत्कालीन महाराजा ने इस दिशा में बहुत से प्रयास किये।[3]

इसका प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव फसल के उत्पादन पर पड़ा। इसी समय ग्वालियर राज्य के शासन ने जमींदार हितकारी सभा का प्रारंभ करवाया। कृषि के आधुनिकीकरण हेतु राज्य में एक कृषि तकनीकी विभाग की स्थापना की गयी।[4]

कृषि के क्षेत्र में विस्तार की दृष्टि से 1923 में एक पद अलग से स्थापित किया गया ।[5]

ग्वालियर में पशुपालन पर भी बहुत ध्यान दिया। इसी क्रम में राज्य में सन 1909 में ग्वालियर में पशु चिकित्सालय स्थापित किया गया। इस विभाग ने उत्तम किस्म के पशु राज्य के बाहर से मंगाये एवं इन सभी को जिला बोर्ड के द्वारा जमींदारों को वांट दिया गया।[6]

ग्वालियर राज्य में कृषि उपज की उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से एक कृषि प्रयोगशाला स्थापित की गयी। दरबार पॉलिसी में कहा गया कि प्रयोगशाला का स्टाफ कुशल तथा प्रवीण एंव शोध कार्य में भी दक्ष था।[7]

कृषि में उन्नति कृषि शिक्षा प्राप्त करने की जा सकती है। ग्वालियर राज्य में तत्कालीन महाराज

* प्राध्यापक–इतिहास, शास. कमलाराजा स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

की इच्छा थी कि राज्य के जमींदारों के लड़कों तथा कृषकों को कृषि शिक्षा प्रदान की जावे तो ही कृषि का विकास हो सकता है। इसी कारण ग्वालियर राज्य में कृषि शिक्षा प्रारंभ की गई।

कृषि उपकरणों के निर्माण के लिये राज्य में कृषि इंजीनियरिंग विभाग था। यह विभाग मांग के अनुसार कृषि उपकरण बनाता था, खेतों की जुताई का भी ठेका लेता था। पावर से चलाई जाने वाली क्रेसिंग मशीन वोरिंग का कार्य राज्य के भेलसा[9], ईसागढ़ तथा भिण्ड जिलों में बहुत होता था।

ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत जहां पर कृषि की सिंचाई के लिये पर्याप्त सुविधा उपलब्ध नहीं थी। पानी की सुलभता से उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया तथा राज्य ने बोरिंग कराई एवं अधिकांश स्थानों पर नलकूप खोदे गये।[10]

1. नजर अली मिल, उज्जैन

ग्वालियर राज्य में कृषि के अन्तर्गत बीहड़ों को उपजाऊ बनाने के लिये विहणीकरण की योजना का शुभारंभ हुआ। इसके अन्तर्गत तवरघार, श्योपुर, तथा भिण्ड के काश्तकारों को समझाया गया एवं राज्य की ओर से इस कार्य के लिये 48 हजार की मदद भी दी गयी।

राज्य ने कृषि के विस्तार कार्यक्रम को प्रचारित करने के लिये जिला स्तर पर प्रत्येक जिले में एक प्रचार समिति बनाई एवं उसमें एक कुशल अनुभवी नायब तहसीलदार को रखा गया।[11]

ग्वालियर राज्य में महाराज सिंधिया के शासन काल में कृषि के क्षेत्र में आधुनिकीकरण के अत्यधिक प्रयास किये गये एंव उनके प्रयोगात्मक तरीकों के लिये महाराज ने राज्य में स्वयं भ्रमण किये तथा कृषकों को नये तरीकों को अपनाये जाने के लिये आकर्षित करने में अनेकों प्रयास किये परिणामस्वरूप सफलता भी प्राप्त हुई।

माधवराव सिंधिया के शासन काल में कृषि क्षेत्र में बहुत कार्य हुए। महाराज कृषकों को सदैव अन्दाता के नाम से पुकारते थे एवं उनके हितों की रक्षा कृषि नीति के दो प्रमुख अंग थे।

1. कृषि के आधुनिकीकरण एंव नवीन प्रयोग
2. कृषि योग्य भूमि का विस्तार

ग्वालियर राज्य के कृषिकों की आर्थिक स्थिति अत्यधिक दयनीय थी। कृषि मुख्य रूप से वर्षा पर आधारित थी। उत्तरी प्रान्त के कृषकों में पिछड़ापन एवं आर्थिक स्थिति भी कमजोर थी उसका मुख्य कारण वहां कम उपजाऊ भूमि थी।

विदिशा जिला कृषि के क्षेत्र में उन्नतिशील था। कृषकों की आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ थी। इस जिले में जोतों का औसत आकार 25 बीघा था जिसमें लगभग 80 मन अनाज उत्पन्न होता था।[12]

ब्रिटिश कालीन ग्वालियर राज्य की स्थापना के समय राज्य में आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय थी। राज्य के अधिकांश क्षेत्र में अकालों, प्राकृतिक आपदाओं, पिण्डरियों एंव अन्य लुटेरें गिरोहों से यह क्षेत्र बर्वादी के कगार पर आ गया था। सिंधिया शासकों ने इस स्थिति को सुधारने के लिये कृषि में आधुनिकीकरण के प्रयास किये जिसमें माधवराव सिंधिया के प्रयास अत्यधिक सराहनीय रहे।

उपरोक्त विवेचना के बाद हम यह निष्कर्षतया यह कह सकते हैं कि ग्वालियर राज्य के सिंधिया शासक माधवराव सिंधिया (प्रथम) ने सर्वप्रथम राज्य में कृषि व्यवस्था की ओर ध्यान दिया तथा राज्य में कृषि विभाग की स्थापना भी जिसके कारण राज्य के कृषि स्वरूप में विकास हुआ।

पशुपालन

चूंकि ब्रिटिश कालीन ग्वालियर राज्य कृषि प्रधान राज्य था अतः कृषि उत्पादन की दृश्टि से पशुपालन कृषि का एक अभाज्य अंग हैं। इसी कारण से ग्वालियर राज्य के लोग विभिन्न प्रकार के पशुओं का पालन करते थे। राज्य के प्रमुख रूप से दो प्रकार के पशुओं का पालन किया जाता थां एक प्रकार से वह पशु थे जिनका उपयोग कृषि में किया जाता था तथा अन्य वह पशु थे जिनका उपयोग गैर कृषि एवं पारिवारिक दृश्टि से किया जाता था।

दुग्धालय उद्योग

ग्वालियर राज्य के ग्वालियर जिले के दुधारू पशुओं से होने वाली दुग्ध पूर्ति की मांग को पूरा करने के लिये कम थी। ग्रामीण लोग दूध के लिये अपने पालतू पशुओं पर निर्भर रहते हैं तथा शहरी क्षेत्रों की जनता नगर के समीप निवास करने वाले ग्वालों द्वारा की जाने वाली दुग्ध पूर्ति पर आधारित रहते थे।[13]

राज्य के अन्तर्गत सन 1930–31 में ग्वालियर में ग्वालियर दुग्धालय की स्थापना की गयी और इसमें दुग्ध की पूर्ति बढ़ाने के लिये अच्छी नस्ल की गाय व भैंसे बाहर से मंगवायी गयी जो दुग्ध पूर्ति बढाने के लिये किये गये उपायों में से एक हैं, पशुओं की नस्ल सुधारने के भी प्रयत्न किये गये।

भेड़पालन

ग्वालियर राज्य के ग्वालियर जिले में देशी नस्ल की भेंडे पाली जाती हैं। इनसे मांस की पूर्ति होती है। ग्वालियर में गर्मी अधिक दिनों तक रहती हैं। यहां एक भेड पालन केन्द्र स्थापित किया गया किन्तु यह भेड़ पालन के लिये अनुपयुक्त साबित हुआ। अच्छी किस्म की ऊन प्राप्त करने के लिये पशु चिकित्सा विभाग ने उत्तम प्रकार की बीकानेरी नस्ल के मेढ़े रखकर भेड़ों की नस्ल में सुधार का कार्य भी किया।

कुक्कुट पालन

ग्वालियर में राज्य में कुक्कुट पालन की इकाईयों स्थापित की गयी। विभागीय प्रचार के परिणामस्वरूप ग्वालियर शहर के आसपास के गांवों में लोगों ने कुक्कुट पालन किया। राज्य ने कुक्कुट पालन केन्द्र खुलवाये एवं क्रय – विक्रय की गतिविधियां भी प्रांरभ हुयी।

मत्स्य उद्योग

ग्वालियर के अन्तर्गत व्यावसायिक दृष्टि से मत्स्य उद्योग विकसित हुआ। ग्वालियर जिला मध्यप्रदेश का श्रेष्ठ मछली उत्पादन क्षेत्रों में से एक है।

ग्वालियर जिले में सोनरेखा नदी के किनारे बसे हुए सुसेरा गांव के पास मछली के बच्चों का एक संग्रहण केन्द्र है। मछली उद्योग के विकास की दृष्टि से एक प्रयोगशाला भी स्थापित की गयी।

मत्स्य उद्योग के विकास के क्रियाकलापों में मत्स्य पालन हेतु तालाबों की सफाई एंव मरम्मत तथा मछुआ सहकारी समितियों का गठन किया गया।

ग्वालियर में ऐसे कई जलाशय हैं जहां वर्ष भर जल भरा रहता है। चम्बल एवं उसकी सहायक नदियां भी इस जिले में हेाकर बहती है।

सहकारी वित्त व्यवस्था तथा मण्डी व्यवस्था

पूर्व ग्वालियर राज्य शासन ने सन् 1909 के कृषि बैंक अधिनियम के अनुसार राज्य के लिये की तहसील मुख्यालयों में कृषि बैंकों की स्थापना की गयी जिनका उद्देश्य फसल उगाओं एवं भूमि सुधारों के

लिये कमजोर एवं अभावग्रस्त कृषकों को ऋण देना था। इन बैंकों की कार्यप्रणाली की समीक्षा करने के बाद राज्य शासन ने सहकारी समितियां अधिनियम 1918 अधिनियिमित किया जिसके अधीन जिला मुख्यालय तथा कुछ परगना मुख्यालयों में कृषि बैंकों कों प्रतिस्थापित करने के लिये सहकारी समितियां और केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थापना की गयी।

किन्तु सन् 1925 तक कृषि बैंक भी इन बैंकों के साथ–साथ कार्य करते रहे और ऐसे किसानों की सहायता करते रहे जो सहकारी समितियों के सदस्य नहीं थे। इस प्रकार ग्राम तथा जिला स्तर पर सहकारी ऋण समितियों ने सन् 1918 से कार्य प्रारंभ किया। इन समितियों की कार्यप्रणाली में निरंतर विस्तार ही हुआ है। सन् 1909 का कृषि बैंक अधिनियम 1925 कमें निरसित कर दिया गया एवं इनका दायित्व जिला सहकारी बैंक को सौंप दिया गया।

वर्तमान में सहकारी वित्त व्यवस्था की सबसे छोटी इकाईयां प्रारंभिक ऋण समितियां है जो एक विशेष ग्राम की ही आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। ये समितियां कृषकों को बीज, उर्वरकों और पशुधन की खरीद के लिये अल्पावधि तथा मध्यवधि ऋण देती हैं।

जिला स्तर पर सहकारी समितियों की वित्त व्यवस्था करने के लिये 19 जुलाई 1918 को जिला सहकारी बैंक की स्थापना की गयी।

राज्य में कृषि मण्डी व्यवस्था के क्षेत्र में मुरार में एक सहकारी मण्डी व्यवस्था समिति स्थापित की गयी। कमीशन आधार पर तहसील में उर्वरकों के वितरण का कार्य हाथ में लेती है।

ग्वालियर राज्य में सहकारी वित्त व्यवस्था ओर मण्डी व्यवस्था ने कृषि वित्त व्यवस्था एवं मण्डी व्यवस्था ने राज्य की कृषि अर्थ व्यवस्था को पूरी तरह सहारा न दे सकी।

उपरोक्त अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि यद्यपि ग्वालियर राज्य की स्थापना भारतीय इतिहास के संक्रमण काल में हुई थी, परन्तु 19वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में सिंधिया शासकों ने राज्य में आर्थिक सुद्धरीकरण के लिये कृषि तथा पशुपालन को समुचित महत्व प्रदान किया। परिणाम स्वरूप राज्य में कृषि एवं पशुपालन के विकास से राजस्व में वृद्धि हुई।

संदर्भ

1. जयाजी प्रताप, अंक 1925 ग्वालियर, 204
2. ग्वालियर टुडे, पृष्ठ–44
3. जयाजी प्रताप, अंक 1925 ग्वालियर, 204
4. कृष्णन, व.सु–मध्यप्रदेश जिला गजेटियर ग्वालियर जिला गजेटियर विभाग मध्यप्रदेश, भोपाल, 1968, पृष्ठ 99
5. ग्वालियर टुडे, पृष्ठ–44
6. कृष्णन, व.सु – पूर्वोक्त, पृष्ठ 99
7. वहीं
8. कृष्णन, व.सु – पूर्वोक्त, पृष्ठ 107
9. भेलसा वर्तमान मध्यप्रदेश राज्य का विदिश जिला मुख्यालय है।
10. जयाजी प्रताप, अंक 1925 ग्वालियर, 204
11. वहीं
12. रिपोर्ट ऑफ दी एकोनोमिक्स इन्डस्ट्रीज सर्वे, आलीजाह दरबार प्रसेख ग्वालियर

मुगल कालीन चित्रकला का उद्‌भव

लता मिश्रा*

दिल्ली सल्तनत के पतन के उपरान्त भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। वंशीय साम्राज्य के समान भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना एवं विकास उतार–चढ़ाव पूर्ण रहा।[1] मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर ने ही भारत में मुगल चित्रकला का प्रारम्भ किया। बाबर ने उद्यान कला के समान चित्रकला के विकास में महत्वपूर्ण येागदान दिया। वह अपने साथ वहजाद नामक ईरानी शैली का चित्रकार लाया था। मुगल चित्रकला भारत तथा ईरान की चित्रकला का मिश्रित रूप था।[2]

मुगल कला का आदि स्त्रोत या जन्मस्थान समरकन्द और हिरात था। पन्द्रहवीं शताब्दी में तैमूरवंश के संरक्षण में फारस की कला का उद्‌भव हुआ। तैमूर का भारतवर्ष से सम्बन्ध, साधारणतया कला की दृष्टि से नहीं माना जाता है, क्योंकि उसने भारतवर्ष पर 1398 ई. में आक्रमण किया और लूटमार, विध्वंस तथा बर्बरता का प्रदर्शन किया। तैमूर के सैनिकों ने लूटमार की और उन्होंने भवनों को गिरा दिया तथा स्थान–स्थान पर आग लगायी गई और अत्याचार किये गए। परन्तु दूसरी ओर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि तैमूरवंश बर्बर न था, उसमें पूर्णता सभ्य और कलाप्रिय शासकों का जन्म हुआ। इस वंश के समान फारस में अन्य कोई ऐसा सभ्य और सुसंस्कृत वंश नहीं हुआ। इस वंश के शासकों ने चित्रकला को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया और एक दरबारी चित्रकला का विकास हुआ।[3]

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में खुरांसा के सुल्तान हुसैन के संरक्षण में बिहजाद जैसा नामी चित्रकार था। बिहजाद ईरानी शैली का अपने समय का सबसे उत्तम चित्रकार था। इसी कारण बिहजाद को 'पूर्व का रैफेल' कहा जाता है। बहजाद पहले तैमूरवंशीय सुल्तान हुसैन वेगरा (मिर्जा) का दरबारी चित्रकार था, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् सुल्तान शाह इस्माईल के संरक्षण में चला गया। बाबर ने भी आगे चलकर 'बाबरनामा' या अपनी आत्मकथा में उसका वर्णन दिया है। बाबर के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट बाबर ने बहजाद के चित्रों का अध्ययन किया था। बिहजाद के उत्तराधिकारियों ने उसकी ईरानी शैली को अधिक उन्नत किया और फारस के विभिन्न शासकों ने चित्रकला तथा चित्रकारी को संरक्षण प्रदान किया।[4]

फारस में सोलहवीं शताब्दी तक एक उच्च फारसी–ईरानी कला शैली विकसित हो चुकी थी जो मुगल शासकों के साथ भारतवर्ष में आई।[5]

इस्लाम धर्म के उदय के साथ ईरान में जो कला–शैली विकसित हुई, इस कला शैली और भारतीय चित्रकला का मिश्रित रूप मुगल चित्रकला थी। इस्लाम में मानव आकृतियाँ या जीवधारियों की आकृतियाँ चित्रित करना धर्म निशिद्ध था। अतः इस्लामी चित्रकला में आलंकारिक आलेखनों या ज्यामितीय रूप का चित्रांकन हुआ। प्रारम्भ में इस्लामी चित्रकार जीवधारियों की आकृतियों के चित्रण के प्रति उदासीन रहे परन्तु शनैः–शनैः धार्मिक कट्टरता शिथिल पड़ने लगी और पुश्प–पक्तियों, पशु–पक्षियों तथा मानवाकृतियों का भी अंकन प्रचलित हो गया।

तैमर का पुत्र शाहरूख महान कला प्रेमी हुआ। उसने हिरात नगर को राजधानी बनाया और हिरात कला का केन्द्र बन गया। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस हिरात कला शैली का प्रसिद्ध

* शोध छात्रा, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

चित्रकार बहजाद हुआ। इस ईरानी या हिरात शैली का भारत में बहजाद तथा उसके शिष्यों ने विकास किया।

इस प्रकार भारत में मुगल चित्रकला के उद्‌भव का पूर्ण श्रेय बाबर के आक्रमण के समय भारत आये हिरात कला शैली के चित्रकार बहजाद को जाता है। बिहजाद में भारत में अपनी ईरानी चित्रण शैली में भारतीय चित्रकला से प्रभावित चित्रांकन के माध्यम से मुगल चित्र शैली की स्थापना की।

सन्दर्भ

1. पर्सी ब्राउन, इण्डिय पेन्टिगस अण्डर दी मुगल्स, कलकत्ता, 1953, पृ. 54 ।
2. डॉ. अनीस फारूकी, आर्ट ऑफ इण्डिया एण्ड परसिया, नयी दिल्ली, 1984, पृ. 2 ।
3. ए.एच. ब्रेवरीज (अनु.), बाबर नामा, लन्दन, 1910, पृ. 286।
4. राष्ट्रीय कला संग्राहालय की मुगल चित्र वीथिका में मुगलकालीन चित्रों में हुमाँयू के समय के लघुचित्र देखने को मिलते हैं।
5. सैय्यद अजहर अली एण्ड इम्तियाज अली (अनु.) तारीख–ए–अकबरी, रामपुर, 1962, पृ. 423 ।

पत्रकारिता में आकाशवाणी एवं दूरदर्शन की भूमिका

श्रेष्ठा शर्मा*

शोध सार

पत्रकारिता हमारे जीवन की पथ–प्रदर्शक है। उसके द्वारा हम सम्पूर्ण विश्व के समाचारों से परिचित होते हैं। वह हमारे राजीनतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा साहित्यिक ज्ञान में वृद्वि करने में सहायक होती है। संसार को विज्ञान, कला कौशल, आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान पत्रकारिता के माध्यम से होता है। चूँकि पत्रकारिता मानवीय गतिविधि एवं सांसारिक परिस्थितियों में स्वरूपित व संधारित होती है। इसलिये उस पर सामाजिक, राजनीतिक आदि परिवर्तनों का सीधा असर पड़ता है।

परस्पर एवं सामूहिक संचार एवं संवाद जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। अगर देखा जाए तो पशु– पक्षी भी खतरे का आभास होने पर अपनी बोली या संकेतों द्वारा एक दूसरे को सजग कर देते हैं। मानव एक सामाजिक प्राणी है। इस कारण अपने इर्द–गिर्द होने वाली तमाम अनोखी, मनोरंजक, भयानक, शोकजनक अथवा आनन्ददायक घटनाओं को जानने के लिये उत्सुक रहता है। इसी जिज्ञासा के फलस्वरूप समाचार –संचार का जन्म हुआ। पत्रकारिता में लिखित एवं दृश्य सामग्री का प्रकाशन होता रहता है। पत्रकारिता में प्रकाशित समाचार अपने महत्व के अनुसार सूचनात्मक भी होते हैं और विवरणात्मक भी इसलिये संचार माध्यमों में पत्रकारिता तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन का एक महत्वपूर्ण स्थान है और आगे भी रहेगा। विश्व बहुत विशाल है और इसे हमारे समीप लाने में पत्रकारिता का अभूतपूर्व योगदान रहा है।

शोध प्रपत्र

प्रारंभ में जंगलों में रहने वाले आदि मानव आग जलाकर धुंएं के विभिन्न संकेतों द्वारा समाचार प्रेषित करते थे। समय में परिवर्तन होने के साथ शिक्षा–लेखों, भोज–पत्रों, हरकारों, वाहनों आदि की सहायता ली गयी, प्रेम –संदेश या अन्य समाचार भेजने के लिए कबूतरों का उपयोग भी होता रहा है। संसार के हर क्षेत्र में वैज्ञानिक परिवर्तन का प्रभाव पडा। परिणामस्वरूप पत्रकारिता ने भी नवीन रूप धारण किया जो रेडियो पत्रकारिता, दूरदर्शन पत्रकारिता, न्यू जर्नलिज्मया वीडियो पत्रकारिता, फोटोग्राफी या चित्र पत्रकारिता, सेटेलाइट या अंतरिक्ष पत्रकारिता, के रूप में दृष्टिगत होता है। यदि हम रेडियो पत्रकारिता की बात करे तो आकाशवाणी शब्द भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित, बेतार से कार्यक्रम प्रसारित करने वाली राष्ट्रीय, देशव्यापक अखिल भारतीय सेवा के लिए व्यवहार में लाया जाता है। भारत में रेडियो पत्रकारिता का इतिहास लगभग सत्तर वर्ष पुराना है। स्वतंत्रता पूर्व सन् 1927 में एक निजी कम्पनी इण्डियन ब्राइकास्टिंग कम्पनी द्वारा कोलकत्ता एवं मुम्बई में दो केन्द्रों की स्थापना हुयी थी जिसे 1930 में भारत सरकार द्वारा प्रसारण कार्य को इण्डियन स्टेट ब्राइकास्टिंग का नाम देकर अपने अधिकार में ले लिया गया। इसके एक वर्ष बाद 9 अक्टूबर 1931 को इसे बंद कर दिया गया। परन्तु 8 जून 1936 में आकाशवाणी को पुनः प्रारम्भ किया गया और इस संस्था की स्थापना के अवसर पर इसका अंग्रेजी नामकरण आल इंडिया रेडियो हुआ। किन्तु इससे पूर्व ही सन् 1935 में तत्कालीन देशी रियासत मैसूर में एक अलग रेडियो स्टेशन की स्थापना की गई जिसे मैसूर सरकार ने आकाशवाणी का नाम दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ समय बाद जब देशी रियासतों के रेडियो स्टेशन आल इंडिया रेडियो में सम्मिलित कर लिए गये, तो आल इंडिया के लिए भारतीय नाम आकाशवाणी मैसूर रेडियो के नामानुसार अपना लिया

* शोध छात्रा, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

गया। इस समय अंग्रेजी में आल इंडिया रेडियो और भारतीय भाशाओं में श्आकाशवाणीश शब्द का प्रयोग होता है।

आकाशवाणी की स्थापना सन् 1936 में हुई, यद्यपि भारतवर्ष में रेडियो कार्यक्रमों का सिलसिलेवार प्रसारण 23 जुलाई 1927 से ही प्रारंभ हो गया था। आकाशवाणी केन्द्रीय सरकार के प्रसार और सूचना मंत्रालय के अधीनस्थ एक विभाग है। केन्द्रीय सूचना तथा प्रसारण मंत्री और उनके मंत्रालय आकाशवाणी पर अपना नियन्त्रण रखते हैं। इनके प्रमुख अधिकारी महानिदेशक/डाइरेक्टर जनरल हैं जिनके नीचे देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित रेडियो स्टेशन, ट्रांसमीटर और अन्य प्रकार के केन्द्र तथा कार्यालय हैं। जैसे समाचार विभाग, विदेशी कार्यक्रम विभाग, दूरदर्शन केन्द्र इत्यादि। आकाशवाणी का प्रधान कार्यालय नई दिल्ली के प्रसार भवन और आकाशवाणी भवन में स्थित है।

आकाशवाणी भारतवासियों के लिए 16 मुख्य भाशाओं, 29 आदिवासी भाषाओं तथा 48 उपभाषाओं में विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित करती हैं। कार्यक्रम के प्रथम वर्ग में क्षेत्रीय भाषाओं के वे कार्यक्रम हैं जो विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित होते हैं और जिनमें संगीत, वार्ता, नाटक और सामान्य समाज से सम्बद्ध अनेक प्रकार के कार्यक्रम आते हैं। दूसरा वर्ग है राष्ट्रीय कार्यक्रम जो दिल्ली से प्रसारित होने पर अन्य सभी स्टेशनों द्वारा रिले किए जाते हैं। इन राष्ट्रीय कार्यक्रमों द्वारा देश में सांस्कृतिक आदान–प्रदान बढा। तीसरे कार्यक्रम के अन्तर्गत समाचार बुलेटिनें आती हैं। आकाशवाणी की सभी बुलेटिनों से 16 भाषाओं में समाचार प्रसारित होते हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नया आयाम तब जुडा जब टेलीविजन का आविष्कार हुआ। दूरदर्शन, मीलों दूर बैठे किसी दृश्य, घटना या वस्तु का हूबहू दर्शन। पहले प्रेस, फिर रेडियो और फिर दूरदर्शन। हर माध्यम की अपनी–अपनी सीमाएं होती हैं। समाचार और अखबार की अपनी सीमाएं हैं जिन्हें कुछ हद तक रेडियो ने दूर किया और धीरे–धीरे पत्रकारिता के क्षेत्र में रेडियो अपना विशेष एवं अलग स्थान बना सका। रेडियो के माध्यम से समाचार को तुरन्त दूर–दराज के क्षेत्रों तक पहुंचाने की विशेषता थी। समाचार का संक्षिप्तीकरण, समय की सीमा और सिर्फ समाचार सुनाया जाना ही इसका केन्द्रबिन्दु था।

इस तरह रेडियो अपने आप में पूर्ण होकर भी अपूर्ण था। दूरदर्शन से पत्रकारिता में मानो क्रांति आ गई तथा रेडियो पत्रकारिता में लगभग वैसे ही एक मोड आया जो कभी अखबारों के मार्ग में रेडियो के आविष्कार से आया था। अब श्रवण के साथ–साथ उस घटना, वस्तु, परिस्थिति की हूबहू तस्वीर भी भेजी और प्राप्त की जाने लगी। श्रोता, दर्शक समाचारों या किसी घटना विशेष की जानकारी और पृष्ठभूमि समझने के लिए श्रवण के साथ दृश्य की सुविधा का लाभ भी प्राप्त कर सकते थे। इस प्रकार रेडियो की कुछ कमियां और सीमाएं दूरर्शन के आविष्कार से दूर हो गई।

पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक उन्नति के साथ–साथ सर्वप्रथम 1920 में चित्र को वाणी देने का उपक्रम किया गया। डॉ. ब्लाडिमिट बोरिकिन ने सन् 1923 में गहन – चिंतन और मनन किया। परिणामस्वरूप उन्हें सफलता मिली। सन् 1925 में अमेरिका के जेकिन्सनीज ने यांत्रिक दूरदर्शन उपकरण का प्रदर्शन किया। न्यूयार्क और वांशिगटन के मध्य बेल टेलीफोन लेबोरेटरीज द्वारा तार के माध्यम से दूरदर्शन कार्यक्रम सन् 1927 में भेजा गया। धीरे–धीरे अनेक सुधार किये गये। सन् 1937 ई. में सर्वप्रथम दूरदर्शन के नियमित कार्यक्रम को बी.बी.सी. ने प्रारंभ किया। सन् 1939 न्यूयार्क में लगे विश्व मेला में जनता ने दूरदर्शन पर कार्यक्रम देखा। भारत में दूरदर्शन की विकास यात्रा सन् 1964 से प्रारंभ होती है। 15 अगस्त 1965 से भारत में नियमित रूप से एक घंटे का टी.वी. कार्यक्रम प्रारंभ हुआ।

दूरदर्शन समाचार का अपना रूप–स्वरूप होता है। दूरदर्शन पर समाचार वाचकों को देखा जा सकता है। दूरदर्शन पर घटना क्रम को देखना ही समाचार की विश्वसनीयता को बढ़ाता है।

चित्रात्मक या दृश्यात्मकता दूरदर्शन का प्राण तत्व है। एक चित्र हजार शब्दों के बराबर होता है। अर्थात हजार शब्दों में जिस स्थिति, भाव या घटना को अभिव्यक्ति संभव नहीं हो पाती, उसे हम चित्र द्वारा आसानी से स्पष्ट कर सकते हैं। दूरदर्शन पर समाचार प्रसारण के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाता है।

1. समाचार संक्षिप्त हो कम से कम शब्दों का प्रयोग हो।
2. वाक्य संरचना सरल हो, छोटे–छोटे वाक्य हों, और शब्द भी सरल, चिरपरिचित तथा सार्थक हों।
3. समाचार में क्रमबद्वता हो।
4. बीच–बीच में समाचार से संबंधित दृश्य अवश्य दिखाये जाएं। दृश्यों से समाचार स्पष्ट तो होता ही है, उसकी विश्वसनीयता और आकर्षण में भी वृद्धि होती है।
5. समाचार का प्रस्तुतीकरण अधिक से अधिक दृश्यात्मक बनाया जाए।

दूरदर्शन पर समाचार प्रस्तुति भी एक महत्वपूर्ण कला है। दूरदर्शन का समाचार वाचक मात्र वाचक नहीं होता, वह एक कलाकार भी होना चाहिए विशेषतः वाणी का कलाकार, उसे समाचार उतार – चढाव, समाचार की विषय –वस्तु के अनुरूप भाव – भंगिमा के साथ दृश्यमान बनाना चाहिए। जो दूरदर्शन के पर्दे पर समाचार की प्रस्तुति, विविध कार्यक्रम का संयोजन और मंचीय खेल की अवधारणा निर्धारित करता है वही देदीप्यमान नायक होता है।

अमेरिका में न्यू जर्नलिज्म आंदोलन तभी प्रारंभ हुआ था जब वहां टी.वी. की धूम मची थी। गर्चे टी. बी. की शुरूआत वहां 1940 में हुई थी उसके तेजी से फैलने का दौर छटा–सांतवा दशक ही रहा । पत्रकारिता में बार–बार नए–नए आंदोलन शुरू हुए। हर बार जो बदलाव आया, उसे नई धारा का खिताब मिला। लेकिन साठ–सत्तर के दशक में नई पत्रकारिता का जो आंदोलन शुरू हुआ, उसका नाम ही न्यू जर्नलिज्म पड गया। जैसे भारतीय साहित्य में नई कविता का आंदोलन चला था और उस युग को अब इसी नाम से जाना जाने लगा।

न्यू जर्नलिज्म ने इस दृश्य – श्रव्य संसार माध्यम को यह सुविधा दी कि उसमें समाचार वाचक अपनी बात किसी टिप्पणीकार की तरह करे। अर्थात वह तटस्थ और भावहीन नहीं दिखे बल्कि अपने चेहरे से, अपनी भंगिमा से, अपनी आवाज के उतार चढ़ाव से, भाषा और पृष्ठभूमि में दिखाये जाने वाले दृश्यों से भी समाचार प्रेशित करता हुआ प्रतीत हो। वह श्रोता से बातचीत करता हुआ लगे।

अमेरिका में इस न्यू जर्नलिज्म को पुराना पडे दो दशक हो गये। अब वहां नई तकनीक और परम्पराएं विकसित हो रही हैं। भारत भी तकनीकी के प्रयोग से अछूता नहीं रहा और भारत में भी वीडियो पत्रकारिता की धूम मच गई। सम्पूर्ण बुद्धिजीवी–जगत् में एक वीडियो क्रांति देखी जाने लगी। इण्डियन बुक हाउस ने वीडियो कैसेट पर एक पत्रिका मूवी वीडियो का प्रकाशन सन् 1988 के मार्च महीने से प्रारंभ किया। इन साइट और न्यूज ट्रैक जैसी अंग्रेजी वीडियो समाचार पत्रिकाओं के बाद अब हिन्दी बाजार में भी वीडियो पत्रकारिता का जन्म हो चुका है। कालचक्र नाम से इस प्रकार का प्रथम प्रयास किया गया।

इसके निर्माण से विनीत नारायण ने हिन्दी वाडियो पत्रकारिता के क्षेत्र में हलचल मचा दी। गरवारे फिलम्स की कैसेट पत्रिका लहरें दर्शकों में लोकप्रिय हुई प्रतिमाह इन पत्रिकाओं के लगभग बीस हजार कैसेट बाजार में आते हैं। फिल्मस वीडियो पत्रिकाओं की सफलता से उत्साहित व प्रेरित होकर मद्रास की गणभूमि विजन ने रामायण, महाभारत, वेद, पुराण से संबंधित गण भूमि वीडियो पत्रिका निकाली जिससे आध्यात्मिक जगत् उपकृत हुआ। अमर चित्रकथा, नंदन, चंपक जैसी बाल पत्रिकाओं के आगमन के साथ

ही बाल पत्रकारिता का भी प्रर्दुभाव हो गया। टिंकल नामक एक बाल पत्रिका के संपादक अनन्त पै ने आडियेा कैसेट की दुनिया में भी अपने कदम रखे और एक श्रृंखला टिंकल टाइम विद अंकल पैश के नाम से बनाई इस प्रकार बच्चों के स्वस्थ मनोरंजन हेतु अनोखे कैसेट तैयार होने प्रारंभ हो गये।

समाचार पत्र पठनीय होते हैं, आकाशवाणी श्रव्य, दूरदर्शन तथा वी.सी. आर. श्रव्य, दृश्य एंव पठनीय तीनों हो जाते हैं। इन्हीं तीनों विशेषताओं के कारण कैसेट्स की मांग बढ़ी और क्षेत्रीय भाषाओं में भी कैसेट्स तैयार हुए जैसे मलयालम, चित्रांगली, तमिल – पूमलई।

वीडियो पत्रकारिता का बाजार सन् 1988 के वर्षों में न के बराबर था। पर अयोध्या, मंडल और मेहम कांड के परिणामस्वरूप इस का बाजार काफी प्रगति पर रहा। 27 फरवरी, 1992 के दैनिक व नवभारत टाइम्स में पिछले साल का आदमी शीर्षक से वीडियो पत्रकारिता की समीक्षा की गई थी। 'टाइम' पत्रिका ने 'टेड टर्नर' को 1991 का आदमी चुना। 'टर्नर' सी.एन.एन. के मालिक हैं। सी. एन.एन. जिसने खाडी युद्ध का आंखों देखा हाल कैद किया था।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पत्रकारिता के लिये ना तो दूरदर्शन का महत्व कम है और ना ही रेडियो का। अच्छी पत्रकारिता के प्रसार के लिये दोनों की ही आवश्यकता है। आकाशवाणी व दूरदर्शन दोनों के ही अपने–अपने फायदे हैं और दोनों की ही अपनी–अपनी कमियां। इसलिये किसी एक को कमतर आंकना हमारी भूल होगी। दूरदर्शन अगर दृश्य माध्यम होने के कारण श्रेष्ठ है तो रेडियो की पहुंच गांव के खेतों तक भी है। जयपुर दूरदर्शन से सेवानिर्वत राधेश्याम तिवारी जी कहते हैं कि 'रेडियो' ध्वनि श्रव्य माध्यम होने के कारण उसमें बहुत कम तकनीकी होती है जबकि दूरदर्शन में तकनीक ज्यादा होने के कारण उसे इधर से उधर नहीं ले जाया जा सकता। किसान बैल के सींग पर ट्रांजिस्टर लटकाये गाने भी सुनता रहता है और खेती भी करता रहता है, दूरदर्शन में यह संभव नहीं।

वहीं आकाशवाणी में विगत 30 वर्षों से भी अधिक समय से कार्यरत मोहन मेहर चन्दानी जी कहते हैं कि जिस तरह घर में नई– नई दुल्हन आती है, तो घर का हर सदस्य उसे बारम्बार देखने के लिये उतावला रहता है, लेकिन जब कुछ दिनों उपरान्त दुल्हन के अवगुण सामने प्रकट होने लगते हैं तो वह कैसी लगती है।

इस आधार पर दोनों माध्यमों का अपना–अपना महत्व है। पत्रकारिता के लिये दोनों ही माध्यम आवश्यक हैं। समाज में साम्प्रदायिक एकता के लिये भी आकाशवाणी एवं दूरदर्शन की भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। ऐसा मानना विभिन्न समाज सेतियों का भी है। अतः पत्रकारिता के व्यापक क्षेत्र में दूरदर्शन एवं आकाशवाणी की महती भूमिका है।

सन्दर्भ सूची

1. गुप्त शांतिस्वरूप साहित्यक निबंध अशोक प्रकाशन दिल्ली संस्करण 2016 पृ. 228
2. जौहरी सी.के. पत्रकारिता और जनसंपर्क सुमन प्रकाशन मेरठ संस्करण 2006 पृ. 28
3. श्रीवास्तव पी.के. पत्रकारिता और सामाजिक जीवन रावत प्रकाशन जयपुर संस्करण 2003 पृ. 28
4. दैनिक भास्कर भोपाल संस्करण रविवार 2011 पृ. 6
5. शार्म श्रीनिवास हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल अशोक प्रकाशन नई सडक दिल्ली 2017 पृ. 6
6. शुक्ला बी.के. विज्ञापन और संवादाता अलका प्रकाशन कानपुर संस्करण 2006 पृ. 3
7. पत्रकारिता के मूल सिद्वान्त, कन्हैया अगनानी पृ. 95
8. पत्रकारिता के मूल सिद्वान्त, कन्हैया अगनानी पृ. 97